श्री आत्मानन्द-जैनपुस्तक-प्रचारक-मण्डलका २७ वाँ ग्रन्थ—

श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि-विरचित—

# कर्मविपाक अर्थात् कर्मग्रन्थ

## [ प्रथम भाग ]

( हिन्दी अनुवाद सहित )

अनुवादक—

पण्डित सुखलालजी

भूतपूर्व प्रोफेसर—हिंदू यूनिवर्सिटी, बनारस

प्रकाशक—
दयालचन्द चौरड़िया जौहरी, मंत्री—
श्री आत्मानन्द जैनपुस्तक प्रचारक मण्डल
रोशनमुहल्ला, आगरा

तृतीयावृत्ति ५००

वीरनि०सं० २४७५ विक्रम सं० २००६
आत्म संवत् ५५ ईस्वी सन् १९४९

मूल्य दो रुपया

मुद्रक—
कपूरचन्द जैन,
महावीर प्रेस, किनारी बाजार, आगरा

## आभार-प्रदर्शन

शिवरी ( ग्वालियर ) निवासी

श्रीमान् सेठ टोडरमलजी सुपार्श्वमलजी भांडावतकी

ओरसे

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें १००) रुपयाकी

सहायता प्राप्त हुई है।

अतः 'मण्डल' उनका आभारी है।

—मंत्री

# अनुक्रम

परिशिष्ट

## वक्तव्य

**कर्मग्रन्थोंका महत्त्व—** यह सबको विदित ही है कि जैन साहित्यमें कर्मग्रन्थोंका आदर कितना है। उनके महत्त्वके सम्बन्धमें इस जगह सिर्फ इतना ही कहना बस है कि जैन-आगमोंका यथार्थ व परिपूर्ण ज्ञान, कर्मतत्त्वको जाने बिना किसी तरह नहीं हो सकता और कर्मतत्त्वका स्पष्ट तथा क्रम-पूर्वक ज्ञान जैसा कर्मग्रन्थोंके द्वारा किया जा सकता है, वैसा अन्य ग्रन्थोंके द्वारा नहीं। इसी कारण कर्म-विषयक अनेक ग्रन्थोंमें से छः कर्मग्रन्थोंका प्रभाव अधिक है।

**हिन्दी भाषामें अनुवादकी आवश्यकता—** हिन्दी भाषा सारे हिन्दुस्तानकी भाषा है। इसके समझने वाले सब जगह पाये जाते हैं। कच्छी, गुजराती, मारवाड़ी, मेवाड़ी, पंजाबी, बंगाली, मदरासी तथा मालवा, मध्यप्रान्त, यू० पी० और बिहार आदिके निवासी सभी, हिन्दी भाषाको बोल या समझ सकते हैं। कमसे कम जैन समाजमें तो ऐसे स्त्री या पुरुष शायद ही होंगे, जो हिन्दी भाषाको समझ न सकें। इसलिये सबको समझने योग्य इस भाषामें, कर्मग्रन्थ जैसे सर्वप्रिय ग्रन्थोंका अनुवाद बहुत आवश्यक समझा गया। इसके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रान्त निवासी, जिनकी मातृभाषा भिन्न-भिन्न है, वे अपने विचारोंकी तथा भाषाकी बहुत अंशोंमें एकता कर सकेंगे। इसके सिवाय सर्वप्रिय हिन्दी भाषाके साहित्यके चारों ओरसे पल्लवित करनेकी जो चेष्टा हो रही है, उसमें योग देना भी आवश्यक समझा गया। दिगम्बर भाई अपने उच्च-उच्च

ग्रन्थोंका हिन्दी भाषामें अनुवाद कराकर उसके साहित्यकी पुष्टिमें योग दे रहे हैं, और साथ ही अपने धार्मिक विचार, हिन्दी भाषाके द्वारा सब विद्वानोंके सन्मुख रखनेकी पूर्ण कोशिश कर रहे हैं। श्वेताम्बर भाइयोंने अब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया, इसलिये श्वेताम्बर सम्प्रदायका अच्छे-से-अच्छा साहित्य, जो प्राकृत, संस्कृत या गुजराती भाषामें प्रकाशित हो गया है, उससे सर्व साधारणको फायदा नहीं पहुच सका है। इसी कमीको दूर करनेके लिये सबसे पहले कर्मग्रन्थोंके हिन्दी-अनुवादकी आवश्यकता समझी गई। क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कर्मग्रन्थोंके पठन-पाठन आदिका जैसा प्रचार और आदर देखा जाता है, वैसा अन्य ग्रन्थोंका नहीं।

अनुवादका स्वरूप—कर्मग्रन्थोंके क्रम और पढ़नेवालोंकी योग्यतापर ध्यान दे करके, प्रथम कर्मग्रन्थ तथा दूसरे, तीसरे आदि अगले कर्मग्रन्थोंके अनुवादके स्वरूपमें थोड़ा-सा अन्तर रक्खा गया है। प्रथम कर्मग्रन्थमें कर्म-विषयक पारिभाषिक शब्द प्रायः सभी आ जाते हैं तथा इसके पढ़े विना अगले कर्मग्रन्थोंका अध्ययन ही लाभदायक नहीं हो सकता, इसलिए इसके अनुवादमें गाथाके नीचे अन्वयपूर्वक शब्दशः अर्थ देकर, पीछे भावार्थ दिया गया है। प्रथम कर्मग्रन्थके पढ़ चुकनेके बाद अगले कर्म-ग्रन्थोंके पारिभाषिक शब्द बहुधा मालूम हो जाते हैं, इसलिये उनके अनुवादमें गाथाके नीचे मूल शब्द न लिख कर सीधा अन्वयार्थ दे दिया गया है और अनन्तर भावार्थ। दूसरे, तीसरे आदि कर्मग्रन्थोंमें गाथाके नीचे संस्कृत छाया भी दी हुई है, जिससे थोड़ी भी संस्कृत जाननेवाले अनायास ही गाथाके अर्थको समझ सकें।

**उपयोगिता** - हमारा विश्वास है कि यह अनुवाद विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, क्योंकि एक तो इसकी भाषा हिन्दी है और दूसरे इसका विषय महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त आज तक कर्मग्रन्थोंका वर्तमान शैलीमें अनुवाद किसी भी भाषामें प्रकट नहीं हुआ है। सब कर्मग्रन्थोंपर गुजराती भाषामें टबे हैं, जिनमेंसे श्री जयसोमसूरि-कृत तथा श्री जीवविजयजी-कृत टबे छप गये हैं। श्री मतिचन्द्र-कृत टबा अभी नहीं छपा है। और एक टबा, जिसमें कर्त्ताके नामका उल्लेख नहीं है, हमें आगराके श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथके मन्दिरके भाण्डागारसे प्राप्त हुआ है। यह टबा भी लिखित है। इसकी भाषासे जान पड़ता है कि यह दो शताब्दि पहले बना होगा। ये सभी टबे पुरानी गुजराती भाषामें हैं। इनमेंसे पहले दो टबे, जो छप चुके हैं, उनका पठन-पाठन विशेष प्रचलित है। उनके विचार भी गम्भीर हैं। इस अनुवादके करनेमें टीकाके अतिरिक्त उन दो टबोंसे भी मदद मिली है, पर उनकी वर्णन-शैली प्राचीन होनेके कारण आजकलके नवीन जिज्ञासु, कर्मग्रन्थोंका अनुवाद वर्तमान शैलीमें चाहते हैं। इस अनुवादमें जहाँ तक हो सका है, सरल, संक्षिप्त तथा पुनरुक्ति-रहित शैलीका आदर किया गया है। अतः हमें पूर्ण आशा है कि यह अनुवाद सर्वत्र उपयोगी होगा।

**पुस्तकको उपादेय बनानेका यत्न**—हम जानते हैं कि कर्मतत्त्वके जो जिज्ञासु, अगले कर्मग्रन्थोंको पढ़ नहीं पाते, वे भी प्रथम कर्मग्रन्थको अवश्य पढ़ते हैं। इसलिये इस प्रथम कर्मग्रन्थको उपादेय बनानेकी ओर यथाशक्ति विशेष ध्यान दिया गया है। इसमें सबसे पहले एक विस्तृत प्रस्तावना दी गई है, जिसमें कर्मवाद और कर्मशास्त्रसे सम्बन्ध रखने वाले

अनेक आवश्यक अंशोंपर विचार प्रकट किये गये हैं। साथ ही विषय-प्रवेश और ग्रन्थ-परिचयमें भी अनेक आवश्यक बातोंका यथाशक्ति विचार किया गया है, जिन्हें पाठक स्वयं पढ़कर जान सकेंगे। अनन्तर ग्रन्थकारकी जीवनी भी सप्रमाण लिखी गई है। अनुवादके बाद चार परिशिष्ट लगाये गये हैं। जिसमेंसे पहले परिशिष्टमें श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंके कर्म-विषयक समान तथा असमान सिद्धान्त तथा भिन्न-भिन्न व्याख्यावाले समान पारिभाषिक शब्द और समानार्थक भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ संग्रहीत की गई हैं। इससे दिगम्बर सम्प्रदायके कर्मविषयक गोम्मटसार और श्वेताम्बर सम्प्रदायके बीच कितना शब्द और अर्थ-भेद हो गया है, इसका दिग्दर्शन पाठकोंको हो सकेगा।

साधारण श्वेताम्बर और दिगम्बर भाईयोंमें साम्प्रदायिक हठ यहाँ तक देखा जाता है कि वे एक दूसरेके प्रतिष्ठित और प्रामाणिक ग्रन्थको भी मिथ्यात्वका साधन समझ बैठते हैं और इससे वे अनेक जानने योग्य बातोंसे वञ्चित रह जाते हैं। प्रथम परिशिष्टके द्वारा इस हठके कम होनेकी और एक दूसरेके ग्रन्थोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेकी रुचि सर्व-साधारणमें पैदा होनेकी हमें बहुत कुछ आशा है। श्रीमान् विपिनचन्द्रपालका यह कथन बिलकुल ठीक है कि "भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवाले एक दूसरेके प्रामाणिक ग्रन्थोंके न देखनेके कारण आपसमें विरोध किया करते हैं।" इसलिये प्रथम परिशिष्ट देनेका हमारा यही उद्देश्य है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों एक दूसरेके ग्रन्थोंको कमसे कम देखनेकी ओर झुकें और कूप-मण्डूकता का त्याग करें।

दूसरे परिशिष्टके रूपमें कोष दिया है, जिसमें प्रथम कर्मग्रन्थके सभी प्राकृत शब्द हिन्दी-अर्थके साथ दिये गये हैं।

जिन शब्दोंकी विशेष व्याख्या अनुवादमें आगई है, उन शब्दों का सामान्य हिन्दी अर्थ लिख करके विशेष व्याख्याके पृष्ठका नम्बर लगा दिया है। साथ ही प्राकृत शब्दकी संस्कृत छाया भी दी है, जिससे संस्कृतज्ञोंको बहुत सरलता हो सकती है। कोष देनेका उद्देश्य यह है कि आजकल प्राकृतके सर्वव्यापी कोषकी आवश्यकता समझी जा रही है और इसके लिये छोटे बड़े प्रयत्न भी किये जा रहे हैं। हमारा विश्वास है कि ऐसे प्रत्येक ग्रन्थके पीछे दिये हुये कोष द्वारा महान् कोष बनानेमें बहुत कुछ मदद मिल सकेगी। महान् कोष बनानेवाले, प्रत्येक देखने-योग्य ग्रंथपर उतनी बारीकीसे ध्यान नहीं दे सकते, जितनी कि बारीकीसे उस एक-एक ग्रंथको मूलमात्र व अनुवाद-सहित प्रकाशित करनेवाले ध्यान दे सकते हैं।

तीसरे परिशिष्टमें मूल गाथायें दी हुई हैं। जिससे कि मूल मात्र याद करनेवालोंको तथा मूलमात्रका पुनरावर्त्तन करने वालोंको सुभीता हो। इसके सिवाय ऐतिहासिक दृष्टिसे या विषयदृष्टिसे मूलमात्र देखनेवालोंके लिये भी यह परिशिष्ट उपयोगी होगा।

चौथे परिशिष्टमें दो कोष्टक हैं, जिनमें क्रमशः श्वेताम्बरीय दिगम्बरीय उन कर्म-विषयक ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय कराया गया है, जो अब तक प्राप्त हैं या न होनेपर भी जिनका परिचय मात्र मिला है। इस परिशिष्टके द्वारा श्वेताम्बर तथा दिगम्बरके कर्म साहित्यका परिमाण ज्ञात होनेके उपरान्त इतिहासपर भी बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकेगा।

इस तरह इस प्रथम कर्मग्रन्थके अनुवादको विशेष उपादेय बनानेके लिये सामग्री, शक्ति और समयके अनुसार कोशिश की

गई है। अगले कर्मग्रन्थोंके अनुवादोंमें भी करीब-करीब परिशिष्ट आदिका यही क्रम रक्खा गया है।

इस पुस्तकके संकलनमें जिनसे हमें थोड़ी या बहुत किसी भी प्रकारकी मदद मिली है, उनके हम कृतज्ञ हैं। इस पुस्तकके अन्तमें जो अन्तिम परिशिष्ट दिया गया है, उसके लिये हम, प्रवर्त्तक श्रीमान् कान्तिविजयीके शिष्य श्री चतुरविजयजीके पूर्ण कृतज्ञ हैं; क्योंकि उनके द्वारा सम्पादित प्राचीन कर्मग्रंथकी प्रस्तावनाके आधारसे यह परिशिष्ट दिया गया है। तथा हम, श्रीमान् महाराज जिनविजयजी और सम्पादक-"जैन हितैषी"के भी हृदयसे कृतज्ञ हैं। क्योंकि ई० सन् १९१६ जुलाई अगस्तकी *'जैन हितैषी'*की संख्यामें उक्त मुनि महाराजका *'जैन कर्मवाद और तद्विषयक साहित्य'* शीर्षक लेख प्रकट हुआ है। इसके तथा उसपरकी संपादकीय टिप्पणीसे उक्त परिशिष्ट तैयार करनेमें हमें सर्वथा मदद मिली है।

हम इस पुस्तकको पाठकोंके सम्मुख रखते हुये अन्तमें उनसे इतनी ही प्रार्थना करते हैं कि यदि वे इसमें रही हुई त्रुटियोंको सुहृद्भावसे हमें सूचित करेंगे तो हमारे स्नेहपूर्ण हृदयको बिना ही मोल वे सदाके लिये खरीद सकेंगे। विशिष्ट योग्यताकी वृद्धि चाहने वाला कभी अपनी कृतिको पूर्ण नहीं देख सकता, वह सदा ही नवीनताके लिये उत्सुक रहता है। इतना ही नहीं, यदि कोई सखा उसे नवीन और वास्तविक पथ दिखावे, तो वह सदा उसका कृतज्ञ बन जाता है, इस नियम की गम्भीरताको पूर्णतया समझनेकी बुद्धि सं[illegible]
यही हमारी परमात्मदेवसे [illegible] है।

# प्रस्तावना

## कर्मवादका मन्तव्य

कर्मवादका मानना यह है कि सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, ऊँच-नीच आदि जो अनेक अवस्थाएँ दृष्टि-गोचर होती हैं, उनके होनेमें काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि अन्य-अन्य कारणों की तरह कर्मभी एक कारण है। परन्तु अन्य दर्शनोंकी तरह कर्मवाद-प्रधान जैन-दर्शन ईश्वरको उक्त अवस्थाओंका या सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण नहीं मानता। दूसरे दर्शनोंमें किसी समय सृष्टिका उत्पन्न होना माना गया है; अतएव उनमें सृष्टिकी उत्पत्तिके साथ किसी न किसी तरहका ईश्वरका सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। न्यायदर्शन, गौतमसूत्र अ० ४, आ० १, सू० २१ में कहा है कि अच्छे-बुरे कर्मके फल ईश्वर की प्रेरणासे मिलते हैं—"तत्कारितत्वादहेतुः"।

वैशेषिकदर्शन, प्रशस्तपाद-भाष्य पृ० ४८ में ईश्वरको सृष्टि का कर्त्ता मानकर, उसके स्वरूपका वर्णन किया है।

योगदर्शन, समाधिपाद सू० २४ के भाष्य व टीकामें ईश्वरके अधिष्ठानसे प्रकृतिका परिणाम—जड़ जगतका फैलाव माना है।

और श्री शङ्कराचार्यने भी अपने ब्रह्मसूत्र २-१-२६ के भाष्यमें, उपनिषद्के आधारपर जगह जगह ब्रह्मको सृष्टिका उपादान कारण सिद्ध किया है। जैसे:—

'चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्य-साधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम्।'

कि फल देनेके लिये ईश्वर रूप चेतनकी प्रेरणा माननेकी कोई जरूरत नहीं। क्योंकि सभी जीव चेतन हैं। वे जैसा कर्म करते हैं उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिससे बुरे कर्मके फलकी इच्छा न रहनेपर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते हैं कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फलको न चाहना दूसरी बात। केवल चाहना न होनेसे ही किये कर्मका फल मिलनेसे रुक नहीं सकता। सामग्री इकट्ठी हो गई, फिर कार्य आप ही आप होने लगता है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य धूप में खड़ा है, गर्म चीज़ खाता है और चाहता है कि प्यास न लगे; सो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है? ईश्वर कर्तृत्व-वादी कहते हैं कि ईश्वरकी इच्छासे प्रेरित होकर कर्म अपना अपना फल प्राणियोंपर प्रकट करते हैं। इसपर कर्म-वादी कहते हैं कि कर्म करनेके समय परिणामानुसार जीवमें ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्मके फलको आप ही भोगते हैं और कर्म उनपर अपने फल को आप ही प्रकट करते हैं।

तीसरे आक्षेपका समाधान—ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन; फिर उनमें अन्तर ही क्या है? हाँ अन्तर इतना हो सकता है कि जीवकी सभी शक्तियाँ आवरणोंसे घिरी हुई हैं और ईश्वरकी नहीं। पर जिस समय जीव अपने आव-रणोंको हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तियाँ पूर्ण रूपमें प्रकाशित हो जाती हैं। फिर जीव और ईश्वरमें विषमता किस बातकी? विषमताका कारण जो औपाधिक कर्म है, उसके हट जानेपर भी यदि विषमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है? विषमताका राज्य संसार तक ही परिमित है, आगे

नहीं। इसलिये कर्मवादके अनुसार यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं। केवल विश्वासके बल पर यह कहना कि ईश्वर एक ही होना चाहिये, उचित नहीं। सभी आत्मा तात्विक दृष्टिसे ईश्वर ही हैं। केवल बन्धनके कारण वे छोटे-मोटे जीव रूपमें देखे जाते हैं, यह सिद्धान्त सभीको अपना ईश्वरत्व प्रकट करनेके लिये पूर्ण बल देता है।

## व्यवहार और परमार्थमें कर्मवादकी उपयोगिता

इस लोकसे या परलोकसे सम्बन्ध रखनेवाले किसी काम में जब मनुष्य प्रवृत्ति करता है तब यह तो असम्भव ही है कि उसे किसी न किसी विघ्नका सामना करना न पड़े। सब कामोंमें सबको थोड़े बहुत प्रमाणमें शारीरिक या मानसिक विघ्न आते ही हैं। ऐसी दशामें देखा जाता है कि बहुत लोग चंचल हो जाते हैं। घबड़ाकर दूसरोंको दूषित ठहराकर उन्हें कोसते हैं। इस तरह विपत्तिके समय एक तरफ बाहरी दुश्मन बढ़ जाते हैं; दूसरी तरफ बुद्धि अस्थिर होनेसे अपनी भूल दिखाई नहीं देती। अन्तमें मनुष्य व्यग्रताके कारण अपने आरम्भ किये हुये सब कामोंको छोड़ बैठता है और प्रयत्न तथा शक्तिके साथ न्यायका भी गला घोटता है। इसलिये उस समय उस मनुष्यके लिये एक ऐसे गुरुकी आवश्यकता है जो उसके बुद्धि-नेत्रको स्थिर कर उसे यह देखनेमें मदद पहुंचाये कि उपस्थित विघ्नका असली कारण क्या है? जहाँ तक बुद्धिमानोंने विचार किया है यही पता चला है कि ऐसा गुरु, कर्मका सिद्धान्त ही है। मनुष्यको यह विश्वास करना चाहिये कि चाहे मैं जान सकूँ या नहीं, लेकिन मेरे विघ्नका भीतरी व असली कारण मुझमें ही होना चाहिये।

जिस हृदय-भूमिकापर विघ्न विष-वृक्ष उगता है, उसका

बीज भी उसी भूमिकामें बोया हुआ होना चाहिये। पवन, पानी आदि बाहरी निमित्तोंके समान इस विघ्न-विष वृक्षको अंकुरित होनेमें कदाचित् अन्य कोई व्यक्ति निमित्त हो सकता है, पर वह विघ्नका बीज नहीं—ऐसा विश्वास मनुष्य के बुद्धिनेत्रको स्थिर कर देता है। जिससे वह अड़चनके असली कारणको अपनेमें देख, न तो उसके लिये दूसरेको कोसता है और न घबड़ाता है। ऐसे विश्वाससे मनुष्यके हृदयमें इतना बल प्रकट होता है कि जिससे साधारण संकटके समय विक्षिप्त होनेवाला वह बड़ी विपत्तियोंको कुछ नहीं समझता और अपने व्यावहारिक या पारमार्थिक कामको पूरा ही कर डालता है।

मनुष्यको किसी भी कामकी सफलताके लिये परिपूर्ण हार्दिक शान्ति प्राप्त करनी चाहिये, जो एक मात्र कर्मके सिद्धान्तसे ही हो सकती है। आँधी और तूफानमें जैसे हिमालयका शिखर स्थिर रहता है, वैसे ही अनेक प्रतिकूलताओंके समय शान्त भावमें स्थिर रहना, यही सच्चा मनुष्यत्व है, जो कि भूतकालके अनुभवोंसे शिक्षा देकर मनुष्यको अपनी भावी भलाईके लिये तैयार करता है। परन्तु यह निश्चित है कि ऐसा मनुष्यत्व, कर्मके सिद्धान्तपर विश्वास किये बिना कभी आ नहीं सकता। इससे यही कहना पड़ता है कि क्या व्यवहार, क्या परमार्थ, सब जगह कर्मका सिद्धान्त एकसा उपयोगी है। कर्मके सिद्धान्तकी श्रेष्ठताके सम्बन्धमें डा॰ मेक्समूलरका जो विचार है, वह जानने योग्य है। वे कहते हैं:—

"यह तो निश्चित है कि कर्ममतका असर मनुष्य-जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्यको यह मालूम पड़े कि वर्तमान अपराधके बिना भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है वह मेरे पूर्व जन्मके कर्मका ही फल है, तो वह पुराने कर्ज

को चुकानेवाले मनुष्यकी तरह शान्त भावसे उस कष्टको सहन कर लेगा। और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलतासे पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसीसे भविष्यत्‌के लिये नीतिकी समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है तो उसको भलाईके रास्तेपर चलनेकी प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता, यह नीतिशास्त्रका मत और पदार्थशास्त्रका बल-संरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतोंका आशय इतना ही है कि किसीका नाश नहीं होता। किसी भी नीतिशिक्षाके अस्तित्वके सम्बन्धमें कितना ही शङ्का क्यों न हो, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना गया है, उससे लाखों मनुष्योंके कष्ट कम हुये हैं और उसी मतसे मनुष्योंको वर्तमान संकट झेलनेकी शक्ति पैदा करने तथा भविष्यत् जीवनको सुधारनेमें उत्तेजन मिला है।"

## कर्मवादके समुत्थानका काल और उसका साध्य

कर्मवादके विषयमें दो प्रश्न उठते हैं—१. कर्म-वादका आविर्भाव कब हुआ? २. वह क्यों? पहले प्रश्नका उत्तर दो दृष्टिओंसे दिया जा सकता है। १. परम्परा और २. ऐतिहासिक दृष्टिसे:—

१—परम्पराके अनुसार यह कहा जाता है कि जैन धर्म और कर्मवादका आपसमें सूर्य और किरणका सा मेल है। किसी समय, किसी देश विशेषमें जैन धर्मका अभाव भले ही देख पड़े; लेकिन उसका अभाव सब जगह एक साथ कभी नहीं होता। अतएव सिद्ध है कि कर्मवाद भी प्रवाह-रूपसे जैनधर्मके साथ साथ अनादि है, अर्थात् वह अभूतपूर्व नहीं है।

२—परन्तु जैनेतर जिज्ञासु और इतिहास-प्रेमी जैन, उक्त

परम्पराको बिना ननु-नच किये माननेके लिये तैयार नहीं। साथ ही वे लोग ऐतिहासिक प्रमाणके आधारपर दिये गये उत्तरको मान लेनेमें तनिक भी नहीं सकुचाते। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि इस समय जो जैन धर्म श्वेताम्बर या दिगम्बर शास्त्ररूपसे वर्तमान है, इस समय जितना जैन-तत्त्व-ज्ञान है और जो विशिष्ट परम्परा है, यह सब भगवान् महावीर के विचारका चिन्ह है। समयके प्रभावसे मूल वस्तुमें कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है, तथापि धारणशील और रक्षणशील जैनसमाजके लिए इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि उसने तत्त्व-ज्ञानके प्रदेशमें भगवान् महावीरके उपदिष्ट तत्त्वोंसे न तो अधिक गवेषणा की है और न ऐसा सम्भव ही था। परिस्थितिके बदल जानेसे चाहे शास्त्रीय भाषा और प्रतिपादन शैली, मूल प्रवर्तककी भाषा और शैलीमे कुछ बदल गई हो; परन्तु इतना सुनिश्चित है कि मूल तत्त्वोंमें और तत्त्व-व्यवस्थामें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा है। अतएव जैन-शास्त्रके नयवाद, निक्षेपवाद, स्याद्वाद आदि अन्य वादोंके समान कर्मवादका आविर्भाव भी भगवान् महावीरसे हुआ है, यह माननेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं की जा सकती। वर्तमान जैन-आगम, किस समय और किसने रचे, यह प्रश्न ऐतिहासिकोंकी दृष्टि से भले ही विवादास्पद हो; लेकिन उनको भी इतना तो अवश्य मान्य है कि वर्तमान जैन-आगमके सभी विशिष्ट और मुख्यवाद, भगवान् महावीरके विचारकी विभूति हैं। कर्मवाद, यह जैनोंका असाधारण व मुख्यवाद है; इसलिये उसके भगवान् महावीरसे आविर्भूत होनेके विषयमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं किया जा सकता। भगवान् महावीरको निर्वाण प्राप्त हुए २४०५ वर्ष बीते। अतएव वर्तमान कर्मवादके विषयमें यह कहना कि इसे उत्पन्न

हुए ढाई हजार वर्ष हुए, सर्वथा प्रामाणिक है। भगवान् महावीरके शासनके साथ कर्मवादका ऐसा सम्बन्ध है कि यदि वह उससे अलग कर दिया जाय तो उस शासनमें शासनत्व ( विशेषत्व ) ही नहीं रहता, इस बातको जैनधर्मका सूक्ष्म अवलोकन करने वाले सभी ऐतिहासिक भलीभाँति जानते हैं।

इस जगह यह कहा जा सकता है कि 'भगवान् महावीरके समान, उनसे पूर्व, भगवान् पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि हो गये हैं। वे भी जैनधर्मके स्वतन्त्र प्रवर्तक थे, और सभी ऐतिहासिक उन्हें जैनधर्मके धुरन्धर नायकरूपसे स्वीकार भी करते हैं। फिर कर्मवादके आविर्भावके समयको उक्त समय-प्रमाणसे बढ़ानेमें क्या आपत्ति है?' परन्तु इसपर कहना यह है कि कर्मवादके उत्थानके समयके विषयमें जो कुछ कहा जाय वह ऐसा हो कि जिसके माननेमें किसीको किसी प्रकार की आनाकानी न हो। यह बात भूलनी न चाहिए कि भगवान् नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ आदि जैनधर्मके मुख्य प्रवर्तक हुए और उन्होंने जैनशासनको प्रवर्तित भी किया; परन्तु वर्तमान जैन-आगम, जिनपर इस समय जैनशासन अवलम्बित है, वे उनके उपदेशकी सम्पत्ति नहीं। इसलिए कर्मवादके समुत्थानका ऊपर जो समय दिया गया है, उसे अशङ्कनीय समझना चाहिए।

दूसरा प्रश्न यह है कि कर्मवादका आविर्भाव किस प्रयोजनसे हुआ? इसके उत्तरमें तीन प्रयोजन मुख्यतया बतलाये जा सकते हैं:—१. वैदिकधर्मकी ईश्वर-सम्बन्धिनी मान्यतामें जितना अंश भ्रान्त था, उसे दूर करना। २. बौद्ध-धर्मके एकान्त क्षणिकवादको अयुक्त बतलाना। ३. आत्माको जड़ तत्त्वोंसे भिन्न—स्वतंत्र तत्त्व स्थापित करना।

इसके विशेष खुलासेके लिए यह जानना चाहिये कि आर्यावर्त्तमें भगवान् महावीरके समय कौन कौन धर्म थे और उनका मन्तव्य क्या था?

१ इतिहास बतलाता है कि उस समय भारतवर्षमें जैन के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध दो ही धर्म मुख्य थे, परन्तु दोनोंके सिद्धान्त मुख्य-मुख्य विषयोंमें बिलकुल जुदे थे। मूल * वेदों में, उपनिषदों † में, स्मृतियों ‡ में और वेदानुयायी कतिपय दर्शनोंमें ईश्वर विषयक ऐसी कल्पना थी कि जिससे सर्व साधारणका यह विश्वास हो गया था कि जगत्का उत्पादक ईश्वर ही है; यही अच्छे या बुरे कर्मोंका फल जीवोंसे भोगवाता है; कर्म जड़ होनेसे ईश्वरकी प्रेरणाके बिना अपना फल भोगवा नहीं सकते; चाहे कितनी ही उच्च कोटि का जीव हो, परन्तु वह अपना विकास करके ईश्वर हो नहीं सकता; अन्तमें जीव, जीव ही है, ईश्वर नहीं और ईश्वर

---

* सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥—ऋ० म० १०, सू० १६, मं ३

† यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति । — तैत्ति० ३-१,

‡ आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १-५ ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ १-६ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १-८ ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ १-९ ॥—मनुस्मृति

के अनुग्रहके सिवाय संसारसे निस्तार भी नहीं हो सकता; इत्यादि।

इस प्रकारके विश्वासमें भगवान् महावीरको तीन भूलें जान पड़ीं:—(अ) कृतकृत्य ईश्वरका विना प्रयोजन सृष्टिमें हस्तक्षेप करना, (ब) आत्मस्वातंत्र्यका दब जाना और (द) कर्मकी शक्तिका अज्ञान।

इन भूलोंको दूर करनेके लिए व यथार्थ वस्तुस्थिति जानने के लिए भगवान् महावीरने बड़ी शान्ति व गम्भीरता पूर्वक कर्मवादका उपदेश दिया।

२—यद्यपि उस समय बौद्ध धर्म भी प्रचलित था, परन्तु उसमें जैसे ईश्वर कर्तृत्वका निषेध न था वैसे स्वीकार भी न था। इस विषयमें बुद्ध एक प्रकारसे उदासीन थे। उनका उद्देश्य मुख्यतया हिंसाको रोक, समभाव फैलानेका था।

उनकी तत्त्व-प्रतिपादन सरणी भी तत्कालीन उस उद्देश्यके अनुरूप ही थी। बुद्ध भगवान् स्वयं, *कर्म और उसका † विपाक मानते थे, लेकिन उनके सिद्धान्तमें क्षणिकवादको स्थान था। इसलिए भगवान् महावीरके कर्मवादके उपदेश का एक यह भी गूढ़ साध्य था कि "यदि आत्माको क्षणिक मात्र मान लिया जाय तो कर्म-विपाककी किसी तरह उपपत्ति हो नहीं सकती। स्वकृत कर्मका भोग और परकृत कर्मके भोगका अभाव तभी घट सकता है, जब कि आत्माको न तो एकान्त नित्य माना जाय और न एकान्त क्षणिक।"

---

* कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा।
कम्मनिबंधना सत्ता रथस्साणीव यायतो ॥—सुत्तनिपात, वासेठसुत्त, ६१

† यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा तस्स दायादो भविस्सामि।
—अंगुत्तर-निकाय।

इसके विशेष खुलासेके लिए यह जानना चाहिये कि आर्यावर्त्तमें भगवान् महावीरके समय कौन कौन धर्म थे और उनका मन्तव्य क्या था ?

१ इतिहास बतलाता है कि उस समय भारतवर्षमें जैन के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध दो ही धर्म मुख्य थे, परन्तु दोनोंके सिद्धान्त मुख्य-मुख्य विषयोंमें बिलकुल जुदे थे। मूल * वेदों में, उपनिषदों † में, स्मृतियों ‡ में और वेदानुयायी कतिपय दर्शनोंमें ईश्वर विषयक ऐसी कल्पना थी कि जिससे सर्व साधारणका यह विश्वास हो गया था कि जगत्का उत्पादक ईश्वर ही है; वही अच्छे या बुरे कर्मोंका फल जीवोंसे भोगवाता है; कर्म जड़ होनेसे ईश्वरकी प्रेरणाके बिना अपना फल भोगवा नहीं सकते; चाहे कितनी ही उच्च कोटि का जीव हो, परन्तु वह अपना विकास करके ईश्वर हो नहीं सकता; अन्तमें जीव, जीव ही है, ईश्वर नहीं और ईश्वर

---

* सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः...॥—ऋ० म० १०, सू० १६, मं ३

† यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।—तैति० ३-१.

‡ आसीदिदं तमोऽभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः। १-५॥
ततस्स्वयंभूर्भगवानऽव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ १-६॥
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥ १-८॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥ १-९॥—मनुस्मृति

के अनुग्रहके सिवाय संसारसे निस्तार भी नहीं हो सकता; इत्यादि।

इस प्रकारके विश्वासमें भगवान् महावीरको तीन भूलें जान पड़ीं:—(अ) कृतकृत्य ईश्वरका विना प्रयोजन सृष्टिमें हस्तक्षेप करना, (ब) आत्मस्वातंत्र्यका दब जाना और (द) कर्म की शक्तिका अज्ञान।

इन भूलोंको दूर करनेके लिए व यथार्थ वस्तुस्थिति जानने के लिए भगवान् महावीरने बड़ी शान्ति व गम्भीरता पूर्वक कर्मवादका उपदेश दिया।

२—यद्यपि उस समय बौद्ध धर्म भी प्रचलित था, परन्तु उसमें जैसे ईश्वर कर्तृत्वका निषेध न था वैसे स्वीकार भी न था। इस विषयमें बुद्ध एक प्रकारसे उदासीन थे। उनका उद्देश्य मुख्यतया हिंसाको रोक, समभाव फैलानेका था।

उनकी तत्त्व-प्रतिपादन सरणी भी तत्कालीन उस उद्देश्यके अनुरूप ही थी। बुद्ध भगवान् स्वयं, *कर्म और उसका †विपाक मानते थे, लेकिन उनके सिद्धान्तमें क्षणिकवादको स्थान था। इसलिए भगवान् महावीरके कर्मवादके उपदेश का एक यह भी गूढ़ साध्य था कि "यदि आत्माको क्षणिक मात्र मान लिया जाय तो कर्म-विपाककी किसी तरह उपपत्ति हो नहीं सकती। स्वकृत कर्मका भोग और परकृत कर्मके भोगका अभाव तभी घट सकता है, जब कि आत्माको न तो एकान्त नित्य माना जाय और न एकान्त क्षणिक।"

---

* कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा।
कम्मनिबंधना सत्ता रथस्साणीव यायतो॥—सुत्तनिपात, वासेठसुत्त, ६१

† यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा तस्स दायादो भविस्सामि।
—अंगुत्तर-निकाय।

३—आज कलकी तरह उस समय भी भूतात्मवादी मौजूद थे। वे भौतिक देह नष्ट होनेके बाद कृतकर्म-भोगी पुनर्जन्मवान् किसी स्थायी तत्त्वको नहीं मानते थे। यह दृष्टि भगवान् महावीरको बहुत संकुचित जान पड़ी। इसीसे उसका निराकरण उन्होंने कर्मवाद द्वारा किया।

## कर्मशास्त्रका परिचय

यद्यपि वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्यमें कर्म सम्बन्धी विचार है, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रन्थ साहित्यमें दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत जैनदर्शनमें कर्म-सम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अतिविस्तृत हैं। अतएव उन विचारोंका प्रतिपादक शास्त्र, जिसे 'कर्मशास्त्र' या 'कर्म-विषयक साहित्य' कहते हैं, उसने जैन-साहित्यके बहुत बड़े भागको रोक रक्खा है। कर्म-शास्त्रको जैन-साहित्यका हृदय कहना चाहिये। यों तो अन्य विषयक जैन-ग्रन्थोंमें भी कर्मकी थोड़ी बहुत चर्चा पाई जाती है, पर उसके स्वतन्त्र ग्रन्थ भी अनेक हैं। भगवान् महावीरने कर्मवादका उपदेश दिया। उसकी परम्परा अभी तक चली आती है, लेकिन सम्प्रदाय भेद, संकलना और भाषाकी दृष्टि से उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है।

१. सम्प्रदाय-भेद—भगवान् महावीरका शासन, श्वेताम्बर दिगम्बर दो शाखाओंमें विभक्त हुआ। उस समय कर्मशास्त्र भी विभाजित-सा हो गया। सम्प्रदाय भेदकी नींव, ऐसे वज्र-लेप भेदपर पड़ी है कि जिससे अपने पितामह भगवान् महावीरके उपदिष्ट कर्म-तत्त्वपर, मिलकर विचार करनेका पुण्य अवसर, दोनों सम्प्रदायके विद्वानोंको कभी प्राप्त नहीं हुआ। इसका फल यह हुआ कि मूल विषयमें कुछ मतभेद

न होनेपर भी कुछ पारिभाषिक शब्दोंमें, उनकी व्याख्याओं-में और कहीं कहीं तात्पर्यमें थोड़ा बहुत भेद हो गया, जिसका कुछ नमूना पाठक परिशिष्टमें देख सकेंगे:—

२. संकलना—भगवान् महावीरसे अब तकमें कर्म-शास्त्रकी जो उत्तरोत्तर संकलना होती आई है, उसके स्थूल दृष्टिसे तीन विभाग बतलाये जा सकते हैं।

(क) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र—यह भाग सबमें बड़ा और सबसे पहला है। क्योंकि इसका अस्तित्व तब तक माना जाता है, जब तक कि पूर्व-विद्या विच्छिन्न नहीं हुई थी। भगवान् महावीरके बाद करीब ९०० या १००० वर्ष तक क्रम ह्रास-रूप से पूर्व विद्या वर्तमान रही। चौदहमेंसे आठवाँ पूर्व, जिसका नाम 'कर्मप्रवाद' है वह तो मुख्यतया कर्म-विषयक ही था, परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा पूर्व, जिसका नाम 'अग्रायणीय' है, उसमें भी कर्म तत्त्वके विचारका एक 'कर्मप्राभृत' नामक भाग था। इस समय श्वेताम्बर या दिगम्बरके साहित्यमें पूर्वात्मक कर्मशास्त्रका मूल अंश वर्तमान नहीं है।

(ख) पूर्वसे उद्धृत यानी आकररूप कर्मशास्त्र—यह विभाग, पहले विभागसे बहुत छोटा है, तथापि वर्तमान अभ्यासियोंके लिये वह इतना बड़ा है कि उसे आकर कर्म-शास्त्र कहना पड़ता है। यह भाग साक्षात् पूर्वसे उद्धृत है, ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनोंके ग्रन्थोंमें पाया जाता है। पूर्वमें से उद्धृत किये गये कर्मशास्त्रका अंश, दोनों सम्प्रदायमें अभी वर्तमान है। उद्धारके समय सम्प्रदाय भेद रूढ़ हो जानेके कारण उद्धृत अंश, दोनों सम्प्रदायोंमें कुछ भिन्न-भिन्न नामसे प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें १ कर्म-प्रकृति, २ शतक, ३ पंचसंग्रह और ४ सप्ततिका, ये चार ग्रन्थ

और दिगम्बर सम्प्रदायमें १ महाकर्मप्रकृतिप्राभृत तथा २ कषायप्राभृत, ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं।

(ग) प्राकरणिक कर्मशास्त्र—यह विभाग, तीसरी संकलनाका फल है। इसमें कर्म-विषयक छोटे-बड़े अनेक प्रकरण ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इन्हीं प्रकरण ग्रन्थोंका अध्ययन-अध्यापन इस समय विशेषतया प्रचलित है। इन प्रकरणोंके पढ़नेके बाद मेधावी अभ्यासी 'आकर ग्रन्थों' को पढ़ते हैं। 'आकर ग्रन्थों' में प्रवेश करनेके लिए पहले प्राकरणिक कर्मशास्त्रका अवलोकन करना जरूरी है। यह प्राकरणिक कर्मशास्त्रका विभाग, विक्रमकी आठवीं-नववीं शताब्दीसे लेकर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तकमें निर्मित व पल्लवित हुआ है।

३. भाषा—भाषा-दृष्टिसे कर्मशास्त्रको तीन हिस्सोंमें विभाजित कर सकते हैं। क—प्राकृत भाषामें, ख—संस्कृत भाषामें और ग—प्रचलित प्रादेशिक भाषाओंमें।

(क) प्राकृत—पूर्वात्मक और पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र, इसी भाषामें बने हैं। प्राकरणिक कर्मशास्त्रका भी बहुत बड़ा भाग प्राकृत भाषामें ही रचा हुआ मिलता है। मूल ग्रन्थोंके अतिरिक्त उनके ऊपर टीका-टिप्पणी भी प्राकृत भाषामें हैं।

(ख) संस्कृत—पुराने समयमें जो कर्मशास्त्र बना है वह सब प्राकृतमें ही है, किन्तु पीछेसे संस्कृत भाषामें भी कर्मशास्त्रकी रचना होने लगी। बहुत कर संस्कृत भाषामें कर्मशास्त्रपर टीका-टिप्पणी आदि ही लिखे गए हैं, पर कुछ मूल प्राकरणिक कर्मशास्त्र दोनों सम्प्रदायोंमें ऐसे भी हैं, जो संस्कृत भाषामें रचे हुए हैं।

(ग) प्रचलित प्रादेशिक भाषाएँ—इनमें मुख्यतया

कर्णाटकी, गुजराती और हिन्दी, तीन भाषाओंका समावेश है। इन भाषाओंमें मौलिक ग्रन्थ नाम मात्रके हैं। इनका उपयोग, मुख्यतया मूल तथा टीकाके अनुवाद करनेमें ही किया गया है। विशेषकर इन प्रादेशिक भाषाओंमें वही टीका-टिप्पण आदि हैं, जो प्राकरणिक कर्मशास्त्र-विभागपर लिखे हुए हैं। कर्णाटकी और हिन्दी भाषाका आश्रय दिगम्बर साहित्यने लिया है और गुजराती भाषा, श्वेताम्बरीय साहित्यमें उपयुक्त हुई है।

## कर्मशास्त्रमें शरीर, भाषा, इन्द्रियादिपर विचार

शरीर जिन तत्त्वोंसे बनता है वे तत्त्व, शरीरके सूक्ष्म स्थूल आदि प्रकार, उसकी रचना, उसका वृद्धि-क्रम, ह्रास-क्रम आदि अनेक अंशोंको लेकर शरीरका विचार, शरीर-शास्त्रमें किया जाता है। इसीसे उस शास्त्रका वास्तविक गौरव है। वह गौरव कर्मशास्त्रको भी प्राप्त है। क्योंकि उसमें भी प्रसंग-वश ऐसी अनेक बातोंका वर्णन किया गया है, जो कि शरीर से सम्बन्ध रखती हैं। शरीर-सम्बन्धिनी ये बातें पुरातन पद्धतिसे कही हुई हैं सही, परन्तु इससे उनका महत्त्व कम नहीं। क्योंकि सभी वर्णन सदा नये नहीं रहते। आज जो विषय नया दिखाई देता है, वही थोड़े दिनोंके बाद पुराना हो जायगा। वस्तुतः कालके बीतनेसे किसीमें पुरानापन नहीं आता। पुरानापन आता है उसका विचार न करनेसे। सामयिक पद्धतिसे विचार करनेपर पुरातन शोधोंमें भी नवीनता-सी आ जाती है। इसलिए अतिपुरातन कर्मशास्त्रमें भी शरीर-की बनावट, उसके प्रकार, उसकी मजबूती और उसके कारण भूत तत्त्वोंपर जो कुछ थोड़े बहुत विचार पाये जाते हैं, वह उस शास्त्रकी यथार्थ महत्ताका चिह्न है।

इसी प्रकार कर्म शास्त्रमें भाषाके सम्बन्धमें तथा इन्द्रियों-के सम्बन्धमें भी मनोरंजक व विचारणीय चर्चा मिलती है। भाषा किस तत्त्वसे बनती है? उसके बननेमें कितना समय लगता है? उसकी रचनाके लिये अपनी वीर्य्य-शक्तिका प्रयोग आत्मा किस तरह और किस साधनके द्वारा करता है? भाषाकी सत्यता-असत्यताका आधार क्या है? कौन-कौन प्राणी भाषा बोल सकते हैं? किस किस जातिके प्राणीमें, किस किस प्रकारकी भाषा बोलनेकी शक्ति है? इत्यादि अनेक प्रश्न, भाषासे सम्बन्ध रखते हैं। उनका महत्त्वपूर्ण व गम्भीर विचार, कर्म शास्त्रमें विशद रीतिसे किया हुआ मिलता है।

इसी प्रकार इन्द्रियाँ कितनी हैं? कैसी हैं? उनके कैसे कैसे भेद तथा कैसी कैसी शक्तियां हैं? किस किस प्राणीको कितनी कितनी इन्द्रियां प्राप्त हैं? बाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियोंका आपसमें क्या सम्बन्ध है? उनका कैसा-कैसा आकार है? इत्यादि अनेक प्रकारके इन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखने वाले विचार, कर्मशास्त्रमें पाये जाते हैं।

यह ठीक है कि ये सब विचार उसमें संकलना-बद्ध नहीं मिलते; परन्तु ध्यानमें रहे कि उस शास्त्रका मुख्य प्रतिपाद्य अंश और ही है। उसीके वर्णनमें शरीर, भाषा, इन्द्रिय आदि का विचार प्रसंगवश करना पड़ता है। इसलिए जैसी संकलना चाहिये वैसी न भी हो, तथापि इससे कर्मशास्त्रकी कुछ त्रुटि सिद्ध नहीं होती; बल्कि उसको तो अनेक शास्त्रोंके विषयोंकी चर्चा करनेका गौरव ही प्राप्त है।

## कर्मशास्त्रका अध्यात्मशास्त्रपन

अध्यात्म-शास्त्रका उद्देश्य, आत्मा-सम्बन्धी विषयोंपर विचार करना है। अतएव उसको आत्माके पारमार्थिक स्वरूपका

निरूपण करनेके पहले उसके व्यावहारिक स्वरूपका भी कथन करना पड़ता है। ऐसा न करनेसे यह प्रश्न सहजमें ही उठता है कि मनुष्य, पशु-पक्षी, सुखी-दुःखी आदि आत्माकी दृश्यमान अवस्थाओंका स्वरूप, ठीक ठीक जाने विना उसके पारको स्वरूप जाननेकी योग्यता, दृष्टिको कैसे प्राप्त हो सकती है? इसके सिवाय यह भी प्रश्न होता है कि दृश्यमान वर्तमान अवस्थायें ही आत्माका स्वभाव क्यों नहीं है। इसलिये अध्यात्म-शास्त्रको आवश्य है कि वह पहले, आत्मा के दृश्यमान स्वरूपकी उपपत्ति दिखाकर आगे बढ़े। यही क़ाम कर्मशास्त्रने किया है। वह दृश्यमान सब अवस्थाओं को कर्म-जन्य बतला कर उनसे आत्माके स्वभाव की जुदाई की सूचना करता है। इस दृष्टिसे कर्म-शास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र का ही एक अंश है। यदि अध्यात्म-शास्त्रका उद्देश्य, आत्माके शुद्ध स्वरूप का वर्णन करना ही माना जाय तब भी कर्म शास्त्र को उसका प्रथम सोपान मानना ही पड़ता है। इसका कारण यह है कि जब तक अनुभवमें आने वाली वर्कमान अवस्थाओं के साथ आत्माके सम्बन्धका सच्चा खुलासा न हो तब तक दृष्टि, आगे कैसे बढ़ सकती है? जब यह ज्ञान हो जाता है कि ऊपरके सब रूप, मायिक या वैभाविक हैं तब स्वयमेव जिज्ञासा होती है कि आत्माका सचा स्वरूप क्या है? उसी समय आत्माके केवल शुद्ध स्वरूपका प्रतिपादन सार्थक होता है। परमात्माके साथ आत्माका सम्बन्ध दिखाना यह भी अध्यात्मशास्त्रका विषय है। इस सम्बन्धमें उपनिषदोंमें या गीतामें जैसे विचार पाये जाते हैं वैसे ही कर्मशास्त्रमें भी। कर्मशास्त्र कहता है कि आत्मा वही परमात्मा—जीव ही ईश्वर है। आत्माका परमात्मामें मिल जाना, इसका मतलब यह है कि आत्माका अपने कर्मावृत परमात्मभावको व्यक्त करके

परमात्मरूप हो जाना। जीव परमात्माका अंश है, इसका मतलब कर्मशास्त्रकी दृष्टिसे यह है कि जीवमें जितनी ज्ञान-कला व्यक्त है, वह परिपूर्ण, परन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतना-चन्द्रिकाका एक अंश मात्र है। कर्मका आवरण हट जानेसे चेतना परिपूर्ण रूपमें प्रकट होती है। उसीको ईश्वरभाव या ईश्वरत्वकी प्राप्ति समझना चाहिये।

धन, शरीर आदि बाह्य विभूतियोंमें आत्म-बुद्धि करना, अर्थात् जड़में अहंत्व करना, बाह्य दृष्टि है। इस अभेद-भ्रमको बहिरात्मभाव सिद्ध करके उसे छोड़नेकी शिक्षा, कर्म-शास्त्र देता है। जिनके संस्कार केवल बहिरात्मभावमय हो गये हैं, उन्हें कर्म-शास्त्रका उपदेश भले ही रुचिकर न हो, परन्तु इससे उसकी सचाईमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता।

शरीर और आत्माके अभेद भ्रमको दूर कराकर, उसके भेद-ज्ञानको (विवेक-ख्यातिको) कर्म-शास्त्र प्रकटाता है। इसी समयसे अन्तर्दृष्टि खुलती है। अन्तर्दृष्टिके द्वारा अपनेमें वर्तमान परमात्म-भाव देखा जाता है। परमात्म-भावको देखकर उसे पूर्णतया अनुभवमें लाना, यह जीवका शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्म-भावको व्यक्त करानेका काम कुछ और ढँगसे ही कर्म-शास्त्रने अपने ऊपर ले रक्खा है। क्योंकि वह अभेद-भ्रमसे भेद ज्ञानकी तरफ झुकाकर, फिर स्वाभाविक अभेदध्यानकी उच्च भूमिकाकी ओर आत्माको खींचता है। बस, उसका कर्तव्य-क्षेत्र उतना ही है। साथ ही योग-शास्त्रके मुख्य प्रतिपाद्य अंशका वर्णन भी उसमें मिल जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कर्म-शास्त्र, अनेक प्रकारके आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारोंकी खान है। वही उसका महत्त्व है। बहुत लोगोंको प्रकृतियोंकी गिनती, संख्याकी बहुलता आदिसे उसपर रुचि

नहीं होती, परन्तु इसमें कर्मशास्त्रका क्या दोष ? गणित, पदार्थविज्ञान आदि गूढ़ व रस-पूर्ण विषयोंपर स्थूलदर्शी लोगोंकी दृष्टि नहीं जमती और उन्हें रस नहीं आता, इसमें उन विषयोंका क्या दोष ? दोष है समझनेवालोंकी बुद्धिका। किसी भी विषयके अभ्यासीको उस विषयमें रस तभी आता है जब कि वह उसमें तल-तक उतर जाय।

**विषय-प्रवेश**—कर्म-शास्त्र जाननेकी चाह रखनेवालोंको आवश्यक है कि वे 'कर्म' शब्दका अर्थ, भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें प्रयोग किये गये उसके पर्याय शब्द, कर्मका स्वरूप, आदि निम्न विषयोंसे परिचित हो जाँय तथा आत्म तत्त्व स्वतन्त्र तत्त्व है, यह भी जान लें।

**कर्म शब्दके अर्थ**—'कर्म' शब्द लोक-व्यवहार और शास्त्र दोनोंमें प्रसिद्ध है। उसके अनेक अर्थ होते हैं। साधारण लोग अपने व्यवहारमें काम धंधे या व्यवसायके मतलबसे 'कर्म' शब्दका प्रयोग करते हैं। शास्त्रमें उसकी एक गति नहीं है। खाना, पीना, चलना, काँपना आदि किसी भी हल-चलके लिये, चाहे वह जीवको हो या जड़को, कर्म शब्दका प्रयोग किया जाता है।

कर्मकाण्डी मीमांसक, यज्ञ याग-आदि क्रिया-कलाप अर्थमें; स्मार्त विद्वान्, ब्राह्मण आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि ४ आश्रमोंके नियत कर्मरूप अर्थमें; पौराणिक लोग, व्रत नियम आदि धार्मिक क्रियाओंके अर्थमें; वैयाकरण लोग, कर्त्ता जिसको अपनी क्रियाके द्वारा पाना चाहता है उस अर्थमें अर्थात् जिसपर कर्त्ताके व्यापारका फल गिरता है उस अर्थमें; और नैयायिक लोग [illegible] पाँच सांकेतिक कर्मोंमें।

कर्म शब्दका व्यवहार करते हैं। परन्तु जैन शास्त्रमें कर्म शब्दसे दो अर्थ लिये जाते हैं। पहला राग-द्वेषात्मक परिणाम, जिसे कषाय (भाव-कर्म) कहते हैं और दूसरा कार्मण जातिके पुद्गल विशेष, जो कषायके निमित्तसे आत्माके साथ चिपके हुये होते हैं और द्रव्यकर्म कहलाते हैं।

कर्म शब्दके कुछ पर्याय— जैन दर्शनमें जिस अर्थके लिये कर्म शब्द प्रयुक्त होता है उस अर्थके अथवा उससे कुछ मिलते जुलते अर्थ के लिये जैनेतर दर्शनोंमें ये शब्द मिलते हैं— माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्त दर्शनमें पाये जाते हैं। इनका मूल अर्थ करीब-करीब वही है, जिसे जैन-दर्शनमें भाव कर्म कहते हैं। 'अपूर्व' शब्द मीमांसा दर्शनमें मिलता है। 'वासना' शब्द बौद्ध दर्शनमें प्रसिद्ध है, परन्तु योग-दर्शनमें भी उसका प्रयोग किया जाता है। 'आशय' शब्द विशेषकर योग तथा सांख्य दर्शनमें मिलता है। धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार, इन शब्दोंका प्रयोग और दर्शनोंमें भी पाया जाता है, परन्तु विशेषकर न्याय तथा वैशेषिक दर्शनमें। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कई ऐसे शब्द हैं, जो सब दर्शनों के लिये साधारण-से हैं। जितने दर्शन आत्मवादी हैं और पुनर्जन्म मानते हैं उनको पुनर्जन्मकी सिद्धि—उपपत्तिके लिये कर्म मानना ही पड़ता है। चाहे उन दर्शनोंकी भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के कारण या चेतनके स्वरूपमें मतभेद होनेके कारण, कर्मका स्वरूप थोड़ा बहुत जुदा-जुदा जान पड़े; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी आत्मवादियोंने माया आदि उपर्युक्त किसी न किसी नामसे कर्मको अंगीकार किया ही है।

**कर्मका स्वरूप**—मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणोंसे जीवके द्वारा जो किया जाता है वही 'कर्म' कहलाता है। कर्मका यह लक्षण उपर्युक्त भावकर्म व द्रव्यकर्म दोनोंमें घटित होता है, क्योंकि भावकर्म आत्माका और जीवका वैभाविक परिणाम है, इससे उसका उपादान रूप कर्त्ता, जीव ही है और द्रव्यकर्म, जो कि कार्मणजातिके सूक्ष्म पुद्गलोंका विकार है उसका भी कर्त्ता, निमित्त रूपसे जीव ही है। भावकर्मके होनेमें द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्ममें भावकर्म निमित्त। इस प्रकार उन दोनोंका आपसमें बीजाङ्कुरकी तरह कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है।

**पुण्य-पापकी कसौटी**—साधारण लोग यह कहा करते हैं कि—'दान, पूजन, सेवा आदि क्रियाओंके करनेसे शुभ कर्मका (पुण्यका) बन्ध होता है और किसीको कष्ट पहुंचाने, इच्छा-विरुद्ध काम करने आदिसे अशुभ कर्मका (पापका) बन्ध होता है।' परन्तु पुण्य-पापका निर्णय करनेकी मुख्य कसौटी यह नहीं है। क्योंकि किसीको कष्ट पहुंचाता हुआ और दूसरेका इच्छा-विरुद्ध काम करता हुआ भी मनुष्य, पुण्य उपार्जन कर सकता है। इसी तरह दान-पूजन आदि करने वाला भी पुण्य-उपार्जन न कर, कभी-कभी पाप बाँध लेता है। एक परोपकारी चिकित्सक, जब किसीपर शस्त्र-क्रिया करता है तब उस मरीजको कष्ट अवश्य होता है, हितैषी माता-पिता नासमझ लड़केको जब उसकी इच्छाके विरुद्ध पढ़ानेके लिये यत्न करते हैं तब उस बालकको दुःख-सा मालूम पड़ता है; पर इतनेसे ही न तो वह चिकित्सक अनुचित काम करने वाला माना जाता है और न हितैषी माता-पिता ही दोषी समझे जाते हैं। इसके विपरीत जब कोई, भोले लोगोंको

कर्म शब्दका व्यवहार करते हैं। परन्तु जैन शास्त्रमें कर्म शब्दसे दो अर्थ लिये जाते हैं। पहला राग-द्वेषात्मक परिणाम, जिसे कषाय ( भाव-कर्म ) कहते हैं और दूसरा कार्मण जाति के पुद्गल विशेष, जो कषायके निमित्तसे आत्माके साथ चिपके हुये होते हैं और द्रव्यकर्म कहलाते हैं।

**कर्म शब्दके कुछ पर्याय—** जैन दर्शनमें जिस अर्थके लिये कर्म शब्द प्रयुक्त होता है उस अर्थके अथवा उससे कुछ मिलते जुलते अर्थ के लिये जैनेतर दर्शनोंमें ये शब्द मिलते हैं— माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्त दर्शनमें पाये जाते हैं। इनका मूल अर्थ करीब-करीब वही है, जिसे जैन-दर्शनमें भाव-कर्म कहते हैं। 'अपूर्व' शब्द मीमांसा दर्शनमें मिलता है। 'वासना' शब्द बौद्ध दर्शनमें प्रसिद्ध है, परन्तु योग दर्शनमें भी उसका प्रयोग किया जाता है। 'आशय' शब्द विशेषकर योग तथा सांख्य दर्शनमें मिलता है। धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार, इन शब्दोंका प्रयोग और दर्शनोंमें भी पाया जाता है, परन्तु विशेषकर न्याय तथा वैशेषिक दर्शनमें। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कई ऐसे शब्द हैं, जो सब दर्शनों के लिये साधारण-से हैं। जितने दर्शन आत्मवादी हैं और पुनर्जन्म मानते हैं उनको पुनर्जन्मकी सिद्धि—उपपत्तिके लिये कर्म मानना ही पड़ता है। चाहे उन दर्शनोंकी भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के कारण या चेतनके स्वरूपमें मतभेद होनेके कारण, कर्मका स्वरूप थोड़ा बहुत जुदा-जुदा जान पड़े; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी आत्मवादियोंने माया आदि उपर्युक्त किसी न किसी नामसे कर्मको अंगीकार किया ही है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयाऽऽसंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्॥—मैत्र्युपनिषद्

**कर्मका अनादित्व** – विचारवान् मनुष्यके दिलमें प्रश्न होता है कि कर्म सादि है या अनादि? इसके उत्तरमें जैन दर्शनका कहना है कि कर्म, व्यक्तिकी अपेक्षासे सादि और प्रवाहकी अपेक्षासे अनादि है। यह सबका अनुभव है कि प्राणी सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी न किसी तरहकी हलचल किया ही करता है। हलचलका होना ही कर्म-बन्धकी जड़ है। इससे यह सिद्ध है कि कर्म, व्यक्तिशः आदि वाले ही हैं। किन्तु कर्मका प्रवाह कबसे चला? इसे कोई बतला नहीं सकता। भविष्यत्‌के समान भूतकालकी गहराई अनन्त है। अनन्तका वर्णन अनादि या अनन्त शब्दके सिवाय और किसी तरहसे होना असम्भव है। इसलिए कर्मके प्रवाहको अनादि कहे बिना दूसरी गति ही नहीं है। कुछ लोग अनादित्वकी अस्पष्ट व्याख्याकी उलझनसे घबड़ाकर कर्म-प्रवाहको सादि बतलाने लग जाते हैं, पर वे अपने बुद्धिकी अस्थिरतासे कल्पित दोषकी आशंका करके, उसे दूर करनेके प्रयत्नमें एक बड़े दोषको स्वीकार कर लेते हैं। वह यह कि कर्म-प्रवाह यदि आदिमान है तो जीव पहले ही अत्यन्त शुद्ध-बुद्ध होना चाहिये, फिर उसे लिप्त होनेका क्या कारण? और यदि सर्वथा शुद्ध-बुद्ध जीव भी लिप्त हो जाता है तो मुक्त हुये जीव भी कर्म-लिप्त होंगे; ऐसी दशामें मुक्तिको सोया हुआ संसार ही कहना चाहिये। कर्म-प्रवाहके अनादित्वको और मुक्त जीवके फिरसे संसारमें न लौटनेको सब प्रतिष्ठित दर्शन मानते हैं; जैसे:—

न कर्माऽविभागादिति चेन्नाऽनादित्वात्॥ ३५॥
उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च॥ ३६॥—ब्रह्मसूत्र अ० २ पा० १

ठगनेके इरादेसे या और किसी तुच्छ आशयसे दान, पूजन आदि क्रियाओंको करता है तब वह पुण्यके बदले पाप बाँधता है। अतएव पुण्य-बन्ध या पाप-बन्धकी सच्ची कसौटी केवल ऊपर ऊपरकी क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्त्ताका आशय ही है। अच्छे आशयसे जो काम किया जाता है वह पुण्यका निमित्त और बुरे अभिप्रायसे जो काम किया जाता है वह पापका निमित्त होता है। यह पुण्य-पापकी कसौटी सबको एकसी सम्मत है; क्योंकि यह सिद्धान्त सर्व-मान्य है कि—

"यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।"

सच्ची निर्लेपता—साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम न करनेसे अपनेको पुण्य-पापका लेप न लगेगा। इससे वे उस कामको तो छोड़ देते हैं, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहनेपर भी पुण्य-पापके लेपसे अपनेको मुक्त नहीं कर सकते। अतएव विचारना चाहिए कि सच्ची निर्लेपता क्या है? लेप ( बन्ध ), मानसिक क्षोभको अर्थात् कषायको कहते हैं। यदि कषाय नहीं है तो ऊपरकी कोई भी क्रिया आत्माको बन्धनमें रखनेके लिए समर्थ नहीं है। इससे उलटा यदि कषायका वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपरसे हजार यत्न करनेपर भी कोई अपनेको बन्धनसे छुड़ा नहीं सकता। कषाय-रहित वीतराग सब जगह जलमें कमलकी तरह निर्लेप रहते हैं, पर कषायवान् आत्मा योगका स्वाँग रचकर भी तिलभर शुद्धि नहीं कर सकता। इसीसे यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बन्धक नहीं होता। मतलब सच्ची निर्लेपता मानसिक क्षोभके त्यागमें है। यही शिक्षा कर्म-शास्त्रसे मिलती है, और यही बात अन्यत्र भी कही हुई है:—

जाय, पर यदि उसमें कर्मकी बन्धकता (कर्म-लेप पैदा करनेकी शक्ति) है तो वह रागद्वेषके सम्बन्धसे ही। रागद्वेषकी न्यूनता या अभाव होतेही अज्ञानपन (मिथ्यात्व) कम होता या नष्ट हो जाता है। महाभारत शान्तिपर्वके "कर्मणा बध्यते जन्तुः" इस कथनमें भी कर्मशब्दका मतलब रागद्वेषसे ही है।

**कर्मसे छूटनेके उपाय**—अब यह विचार करना जरूरी है कि कर्मपटलसे आवृत अपने परमात्मभावको जो प्रकट करना चाहते हैं, उनके लिये किन किन साधनोंकी अपेक्षा है।

जैन-शास्त्रमें परम पुरुषार्थ—मोक्ष पानेके तीन साधन बतलाये हुए हैं:—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। कहीं-कहीं ज्ञान और क्रिया, दोको ही मोक्षका साधन कहा है। ऐसे स्थलमें दर्शनको ज्ञानस्वरूप - ज्ञानका विशेष—समझकर उससे जुदा नहीं गिनते। परन्तु यह प्रश्न होता है कि वैदिक दर्शनोंमें कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारोंको मोक्षका साधन माना है फिर जैनदर्शनमें तीन या दो ही साधन क्यों कहे गये? इसका समाधान इस प्रकार है कि जैनदर्शनमें जिस सम्यक्चारित्रको सम्यक् क्रिया कहा है, उसमें कर्म और योग दोनों मार्गोंका समावेश हो जाता है। क्योंकि सम्यक् चारित्रमें मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय, चित्त-शुद्धि, समभाव और उनके लिये किये जानेवाले उपायोंका समावेश होता है। मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय आदि सात्विक यज्ञ ही कर्ममार्ग है और चित्त-शुद्धि तथा उसके लिये की जानेवाली सत्प्रवृत्ति ही योग मार्ग है। इस तरह कर्ममार्ग और योगमार्गका मिश्रणही सम्क्-चारित्र है। सम्यग्दर्शन ही भक्ति मार्ग है, क्योंकि भक्तिमें श्रद्धाका अंश प्रधान है, और सम्यग्दर्शन भी श्रद्धा रूप ही है।

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥२२॥—ब्र. सू. अ. ४ पा० ४

कर्मबन्धका कारण— जैन दर्शनमें कर्मबन्धके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये चार कारण बतलाये गये हैं। इनका संक्षेप पिछले दो ( कषाय और योग ) कारणोंमें किया हुआ भी मिलता है। अधिक संक्षेप करके कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि कषाय ही कर्मबन्धका कारण है। यों तो कषायके विकारके अनेक प्रकार हैं, पर उन सबका संक्षेपमें वर्गीकरण करके आध्यात्मिक विद्वानोंने उसके राग, द्वेष दो ही प्रकार किये हैं। कोई भी मानसिक विकार हो, या तो वह राग ( आसक्ति ) रूप या द्वेष ( ताप ) रूप है। यह भी अनुभव-सिद्ध है कि साधारण प्राणियोंको प्रवृत्ति, चाहे वह ऊपरसे कैसी ही क्यों न दीख पड़े, पर यह या तो रागमूलक या द्वेष-मूलक होती है। ऐसो प्रवृत्ति ही विविध वासनाओंका कारण होती है। प्राणी जान सके या नहीं, पर उसकी वासनात्मक सूक्ष्म सृष्टिका कारण, उसके राग और द्वेष ही होते हैं। मकड़ी, अपनी ही प्रवृत्तिसे अपने किये हुये जालमें फँसती है। जीव भी कर्मके जालेको अपनी ही बे-समझीसे रच लेता है। अज्ञान, मिथ्या-ज्ञान आदि जो कर्मके कारण कहे जाते हैं सो भी राग-द्वेषके सम्बन्धसे ही। रागकी या द्वेषकी मात्रा बढ़ी कि ज्ञान, विपरीत रूपमें बदलने लगा। इससे शब्द-भेद होनेपर भी कर्मबन्धके कारणके सम्बन्धमें अन्य आस्तिक दर्शनोंके साथ, जैन दर्शनका कोई मतभेद नहीं। नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शनमें मिथ्या ज्ञानको, योगदर्शनमें प्रकृति-पुरुषके अभेद ज्ञानको और वेदान्त आदिमें अविद्याको तथा जैनदर्शनमें मिथ्यात्वको कर्मका कारण बतलाया है, परन्तु यह बात ध्यान-में रखनी चाहिये किसीको भी कर्मका कारण क्यों न कहा

जो उस विषयको जाननेकी शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होनेपर उसे ग्रहण कर न सके। उदाहरणार्थ— आँख, मिट्टीके घड़ेको देख सकती है, पर जिस समय प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहनेपर भी वह मिट्टीके घड़ेको न देखे, उस समय उसे उस विषयकी बाधक समझना चाहिये।

इन्द्रियाँ सभी भौतिक हैं। उनकी ग्रहणशक्ति बहुत परिमित है। वे भौतिक पदार्थोंमेंसे भी स्थूल, निकटवर्ती और नियत विषयोंको ही ऊपर ऊपरसे जान सकती हैं। सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र आदि साधनोंकी वही दशा है। वे अभी तक भौतिक प्रदेशमें ही कार्यकारी सिद्ध हुये हैं। इसलिये उनका अभौतिक— अमूर्त— आत्माको जान न सकना बाध नहीं कहा जा सकता। मन, भौतिक होनेपर भी इन्द्रियोंकी अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् है सही, पर जब वह इन्द्रियोंका दास बन जाता है—एकके पीछे एक, इस तरह अनेक विषयोंमें बन्दरके समान दौड़ लगाता फिरता है—तब उसमें राजस व तामस वृत्तियाँ पैदा होती हैं। सात्विक भाव प्रकट होने नहीं पाता। यही बात गीता अ० २ श्लोक० ६७ में भी कही हुई है :—

"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥"

इसलिये चंचल मनमें आत्माकी स्फुरणा भी नहीं होती। ...स। ...त्र है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति, जिस ...ह भी जब मलिन हो जाता है तब उसमें ... व्यक्त नहीं होता। इससे यह बात ...यों में दौड़ लगानेवाले अस्थिर मनसे ... उसका बाध नहीं, किन्तु मनकी

सम्यग्ज्ञानही ज्ञानमार्ग है। इस प्रकार जैनदर्शनमें बतलाये हुये मोक्षके तीन साधन अन्य दर्शनोंके सब साधनोंका समुच्चय है।

आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है— कर्मके सम्बन्धमें ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसकी ठीक-ठीक संगति तभी हो सकती है, जब कि आत्माको जड़से अलग तत्त्व माना जाय। आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व इन सात प्रमाणोंसे माना जा सकता है:— क—स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाण, ख—बाधक प्रमाणका अभाव, ग—निषेधसे निषेध-कर्त्ताकी सिद्धि, घ—तर्क, ङ—शास्त्र व महात्माओंका प्रामाण्य, च—आधुनिक विद्वानोंकी सम्मति और छ—पुनर्जन्म।

क. *स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाण*— यद्यपि सभी देहधारी अज्ञानके आवरणसे न्यूनाधिक रूपमें घिरे हुए हैं और इससे वे अपने ही अस्तित्वका सन्देह करते हैं, तथापि जिस समय उनकी बुद्धि थोड़ी सी भी स्थिर हो जाती है उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूँ'। यह स्फुरणा कभी नहीं होती कि 'मैं नहीं हूँ'। इससे उलटा यह भी निश्चय होता है कि 'मैं नहीं हूँ' यह बात नहीं। इसी बातको श्री शंकराचार्यने भी ब्रह्म० भाष्य १-१-१ कहा है :—

"सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति"

इसी निश्चयको स्वसंवेदन आत्मनिश्चय कहते हैं।

ख. बाधक प्रमाणका अभाव— ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो आत्माके अस्तित्वका बाध (निषेध) करता हो। इसपर यद्यपि यह शंका हो सकती है कि मन और इन्द्रियोंके द्वारा आत्माका ग्रहण न होना ही उसका बाध है। परन्तु इसका समाधान सहज है। किसी विषयका प्रमाण वही माना जाता है

जो उस विषयको जाननेकी शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होनेपर उसे ग्रहण कर न सके। उदाहरणार्थ— आँख, मिट्टीके घड़ेको देख सकती है, पर जिस समय प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहनेपर भी वह मिट्टीके घड़ेको न देखे, उस समय उसे उस विषयकी बाधक समझना चाहिये।

इन्द्रियाँ सभी भौतिक हैं। उनकी ग्रहणशक्ति बहुत परिमित है। वे भौतिक पदार्थोंमेंसे भी स्थूल, निकटवर्ती और नियत विषयोंको ही ऊपर ऊपरसे जान सकती हैं। सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र आदि साधनोंकी यही दशा है। वे अभी तक भौतिक प्रदेशमें ही कार्यकारी सिद्ध हुये हैं। इसलिये उनका अभौतिक— अमूर्त— आत्माको जान न सकना बाध नहीं कहा जा सकता। मन, भौतिक होनेपर भी इन्द्रियोंकी अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् है सही, पर जब वह इन्द्रियोंका दास बन जाता है—एकके पीछे एक, इस तरह अनेक विषयोंमें बन्दरके समान दौड़ लगाता फिरता है—तब उसमें राजस व तामस वृत्तियाँ पैदा होती हैं। सात्विक भाव प्रकट होने नहीं पाता। यही बात गीता अ० २ श्लोक० ६७ में भी कही हुई है :—

"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।<br>तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥"

इसलिये चंचल मनमें आत्माकी स्फुरणा भा नहीं होती। यह देखी हुई बात है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति, जिस दर्पणमें वर्तमान है वह भी जब मलिन हो जाता है तब उसमें किसी वस्तुका प्रतिबिम्ब व्यक्त नहीं होता। इससे यह बात सिद्ध है कि बाहरी विषयोंमें दौड़ लगानेवाले अस्थिर मनसे आत्माका ग्रहण न होना उसका बाध नहीं, किन्तु मनकी अशक्ति मात्र है।

जड़ हो जायँगे। जो पाषाण आदि पदार्थ आज जड़रूपमें दिखाई देते हैं वे कभी चेतन हो जायँगे और चेतनरूपसे दिखाई देनेवाले मनुष्य, पशु पक्षी आदि प्राणी कभी जड़रूप भी हो जायँगे। अतएव एक-एक पदार्थमें जड़त्व-चेतनत्व दोनों विरोधिनी शक्तियोंको न मानकर जड़ चेतन दो स्वतन्त्र तत्त्वों को ही मानना ठीक है।

ङ. शास्त्र व महात्माओंका प्रामाण्य—अनेक पुरातन शास्त्र भी आत्माके स्वतन्त्र अस्तित्वका प्रतिपादन करते हैं। जिन शास्त्रकारोंने बड़ी शान्ति व गम्भीरताके साथ आत्माके विषयमें खोज की है, उनके शास्त्रगत अनुभवको यदि हम बिना ही अनुभव किये चपलतासे यों ही हँस दें तो, इसमें क्षुद्रता किसकी? आजकल भी अनेक महात्मा ऐसे देखे जाते हैं कि जिन्होंने अपना जीवन पवित्रता पूर्वक आत्माके विचार में ही बिताया। उनके शुद्ध अनुभवको हम यदि अपने भ्रान्त अनुभवके बलपर न मानें तो इसमें न्यूनता हमारी ही है। पुरातन शास्त्र और वर्तमान अनुभवी महात्मा निःस्वार्थ भाव-से आत्माके अस्तित्वको बतला रहे हैं।

च. आधुनिक वैज्ञानिकोंकी सम्मति—आज कल लोग प्रत्येक विषयका खुलासा करनेके लिये बहुधा वैज्ञानिक विद्वानोंका विचार जानना चाहते हैं। यह ठीक है कि अनेक पश्चिमीय भौतिक-विज्ञान-विशारद आत्माको नहीं मानते या उसके विषयमें संदिग्ध हैं। परन्तु ऐसे भी अनेक धुरन्धर वैज्ञानिक हैं कि जिन्होंने अपनी सारी आयु भौतिक खोजमें बिताई है, पर उनकी दृष्टि मूर्तसे परे आत्मतत्त्वकी ओर भी पहुँची है। इनमेंसे सर ऑलीवर लॉज और लॉर्ड केल्विन, इनका नाम वैज्ञानिक संसारमें मशहूर है। ये दोनों विद्वान्

चेतन तत्त्वको जड़से जुदा माननेके पक्षमें हैं। उन्होंने जड़-वादियोंकी युक्तियोंका खण्डन बड़ी सावधानीसे व विचार-सरणीसे किया है। उनका मन्तव्य है कि चेतनके स्वतन्त्र अस्तित्वके सिवाय जीवधारियोंके देहकी विलक्षण रचना किसी तरह बन नहीं सकती। वे अन्य भौतिकवादियोंकी तरह मस्तिष्कको ज्ञानकी जड़ नहीं समझते, किन्तु उसे ज्ञानके आविर्भावका साधन मात्र समझते हैं।*

डा० जगदीशचन्द्र बोसको, जिन्होंने सारे वैज्ञानिक संसार में नाम पाया है, खोजसे यहां तक निश्चय हो गया है कि वनस्पतियोंमें भी स्मरण-शक्ति विद्यमान है। बोस महाशयने अपने आविष्कारोंसे स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व माननेके लिये वैज्ञानिक संसारको विवश किया है।

छ. पुनर्जन्म— अनेक प्रश्न ऐसे हैं कि जिनका पूरा समाधान पुनर्जन्म माने बिना नहीं होता। गर्भके आरम्भसे लेकर जन्म तक बालकको जो जो कष्ट भोगने पड़ते हैं, वे सब उस बालकको कृतिके परिणाम हैं या उसके माता पिताकी कृतिके? उन्हें बालककी इस जन्मकी कृतिका परिणाम नहीं कह सकते, क्योंकि उसने गर्भावस्थामें तो अच्छा-बुरा कुछ भी काम नहीं किया है। यदि माता-पिताकी कृतिका परिणाम कहें तो भी असंगत जान पड़ता है, क्योंकि माता-पिता अच्छा या बुरा कुछ भी करें, उसका परिणाम बिना कारण बालकको क्यों भोगना पड़े? बालक जो कुछ सुख-दुःख भोगता है, वह यों ही बिना कारण भोगता है, यह मानना तो अज्ञानकी

---

* इन दोनों चैतन्यवादियोंके विचारकी छाया, संवत् १९६१ के ज्येष्ठ मास के, १९६२ के मार्गशीर्ष मासके और १९६१ के भाद्रपद मासके 'वसन्त' पत्रमें प्रकाशित हुई है।

पराकाष्ठा है; क्योंकि बिना कारण किसी कार्यका होना असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि माता-पिताके आहार-विहारका, विचार-व्यवहारका और शारीरिक-मानसिक अवस्थाओंका असर बालकपर गर्भावस्थासे ही पड़ना शुरु होना है तो फिर भी सामने यह प्रश्न होता है कि बालकको ऐसे माता पिताका संयोग क्यों हुआ? और इसका क्या समाधान है कि कभी-कभी बालककी योग्यता माता-पितासे बिलकुल ही जुदा प्रकारकी होती है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जाते हैं कि माता-पिता बिलकुल अपढ़ होते हैं और लड़का पूरा शिक्षित बन जाता है। विशेष क्या? यहाँ तक देखा जाता है कि किन्हीं किन्हीं माता-पिताओंकी रुचि, जिस बातपर बिलकुल ही नहीं होती उसमें बालक सिद्धहस्त हो जाता है। इसका कारण केवल आस-पासकी परिस्थिति ही नहीं मानी जा सकती, क्योंकि समान परिस्थिति और बराबर देख भाल होते हुयेभी अनेक विद्यार्थियोंमें विचार व व्यवहारकी भिन्नता देखी जाती है। यदि कहा जाय कि यह परिणाम बालकके अद्भुत ज्ञानतंतुओंका है, तो इसपर यह शंका होती है कि बालकका देह माता-पिताके शुक्रशोणितसे बना होता है, फिर उनमें अविद्यमान ऐसे ज्ञानतंतु बालकके मस्तिष्कमें आये कहाँसे? कहीं-कहीं माता-पिताकासो ज्ञानशक्ति बालकमें देखी जाती है सही, पर इसमें भी प्रश्न है कि ऐसा सुयोग क्यों मिला? किसी-किसी जगह यह भी देखा जाता है कि मातापिताकी योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है और उनके सौ प्रयत्न करनेपर भी लड़का गँवार ही रह जाता है।

यह सबको विदित ही है कि एक साथ—युगलरूपसे जन्मे हुये दो बालक भी समान नहीं होते। मातापिताको देखभाल

बराबर होनेपर भी एक साधारण ही रहता है और दूसरा कहीं आगे बढ़ जाता है। एकका पिण्ड रोगसे नहीं छूटता और दूसरा बड़े-बड़े कुश्तीबाजोंसे हाथ मिलाता है। एक दीर्घजीवी बनता है और दूसरा सौ यत्न करनेपर भी यमका अतिथि बन जाता है। एककी इच्छा संयत होती है और दूसरे-की असंयत।

जो शक्ति, महावीरमें, बुद्धमें, शङ्कराचार्यमें थी, वह उनके मातापिताओंमें न थी। हेमचन्द्राचार्यकी प्रतिभाके कारण उनके माता-पिता नहीं माने जा सकते। उनके गुरु भी उनकी प्रतिभा-के मुख्य कारण नहीं, क्योंकि देवचन्द्रसूरिके हेमचन्द्राचार्यके सिवाय और भी शिष्य थे, फिर क्या कारण है कि दूसरे शिष्यों-का नाम लोग जानते तक नहीं और हेमचन्द्राचार्यका नाम इतना प्रसिद्ध है? श्रीमती एनी बिसेन्टमें जो विशिष्ट शक्ति देखी जाती है, वह उनके मातापिताओंमें न थी, और न उनकी पुत्रीमें भी। अच्छा, और भी कुछ प्रामाणिक उदाहरण सुनिये:—

प्रकाशकी खोज करने वाले डा० यंग दो वर्षकी उम्रमें पुस्तक को बहुत अच्छी तरह बाँच सकते थे। चार वर्षकी उम्रमें वे दो दफे बाइबल पढ़ चुके थे। सात वर्षकी अवस्थामें उन्होंने गणित-शास्त्र पढ़ना आरम्भ किया था और तेरहर वर्षकी अवस्थामें लेटिन, ग्रीक, हिब्रु, फ्रेंच, इटालियन आदि भाषाएं सीख ली थीं। सर विलियम रोवन हेमिल्टने तीन वर्षकी उम्रमें हिब्रु भाषा सीखना आरम्भ किया और सात वर्षकी उम्रमें उस भाषामें इतना नैपुण्य प्राप्त किया कि डब्लीनकी ट्रीनिटी कालेज-के एक फेलोको स्वीकार करना पड़ा कि कालेजके फेलोके पदके प्रार्थियोंमें भी उनके बराबर ज्ञान नहीं है और तेरह वर्षकी वयमें तो उन्होंने कम से कम तेरह भाषापर अधिकार

लिया था। ई० स० १८८२ में जन्मी हुई एक लड़की ई० १८०२ में, दस वर्षकी अवस्थामें एक नाटकमण्डलमें संमिलित हुई थी। उसने उस अवस्थामें कई नाटक लिखे थे। उसकी माताके कथनानुसार वह पांच वर्षकी वयमें कई छोटी-मोटी कविताएं बना लेती थी। उसकी लिखी हुई कुछ कविताएं महारानी विक्टोरियाके पास थीं। उस समय उस बालिकाका अंग्रेजी ज्ञान भी आश्चर्यजनक था। वह कहती थी कि मैं अंग्रेजी पढ़ी नहीं हूँ, परन्तु उसे जानती जरूर हूँ।

उक्त उदाहरणोंपर ध्यान देनेसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस जन्ममें देखी जानेवाली सब विलक्षणताएं न तो वर्तमान जन्मकी कृतिका ही परिणाम है, न माता-पिताके केवल संस्कारका ही; और न केवल परिस्थितिका ही। इसलिये आत्माके अस्तित्वकी मर्यादाको गर्भके आरम्भसे और भी पूर्व मानना चाहिए। यही पूर्व जन्म है। पूर्व जन्ममें इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो संस्कार संचित हुये हों, उन्हींके आधारपर उपर्युक्त शङ्काओंका तथा विलक्षणताओंका सुसंगत समाधान हो जाता है। जिस युक्तिसे एक पूर्व जन्म सिद्ध हुआ, उसीके बलसे अनेक पूर्व जन्मकी परम्परा सिद्ध हो जाती है। क्योंकि अपरिमित ज्ञान-शक्ति एक जन्मके अभ्यासका फल नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मा, देहसे जुदा अनादि सिद्ध होता है। अनादि तत्त्वका कभी नाश नहीं होता, इस सिद्धान्तको सभी दार्शनिक मानते हैं। गीतामें भी कहा है—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।" २-१६

इतना ही नहीं, बल्कि वर्तमान शरीरके बाद आत्माका अस्तित्व माने बिना अनेक प्रश्न हल ही नहीं हो सकते।

बहुत लोग ऐसे देखे जाते हैं कि वे इस जन्ममें तो प्रामाणिक जीवन बिताते हैं, परन्तु रहते हैं दरिद्री। और ऐसे भी

देखे जाते हैं कि जो न्याय, नीति और धर्मका नाम सुनकर चिढ़ते हैं, परन्तु होते हैं वे सब तरहसे सुखी। ऐसी अनेक व्यक्तियाँ मिल सकती हैं, जो हैं तो स्वयं दोषी, और उनके दोषोंका—अपराधोंका—फल भोग रहे हैं दूसरे। एक हत्या करता है और दूसरा पकड़ा जाकर फाँसीपर लटकाया जाता है। एक करता है चोरी और पकड़ा जाता है दूसरा। अब इसपर विचार करना चाहिये कि जिनको अपनी अच्छी या बुरी कृतिका बदला इस जन्ममें नहीं मिला, उनकी कृति क्या यों ही विफल हो जायगी? यह कहना कि कृति विफल नहीं होती; यदि कर्त्ताको फल नहीं मिला तो भी उसका असर समाजके या देशके अन्य लोगोंपर होता ही है, सो भी ठीक नहीं। क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है वह सब दूसरोंके लिये ही नहीं। रातदिन परोपकार करनेमें निरत महात्माओंको भी इच्छा, दूसरोंकी भलाई करनेके निमित्तसे अपना परमात्मत्व प्रकट करनेकी ही रहती है। विश्वकी व्यवस्थामें इच्छाका बहुत ऊँचा स्थान है। ऐसी दशामें वर्तमान देहके साथ इच्छाके मूलका भी नाश मान लेना युक्तिसंगत नहीं। मनुष्य अपने जीवनकी आखिरी घड़ी तक ऐसी ही कोशिश करता रहता है, जिससे कि अपना भला हो। यह नहीं कि ऐसा करने वाले सब भ्रान्त ही होते हैं। बहुत आगे पहुंचे हुये स्थिरचित्त व शान्त प्रज्ञावान् योगी भी इसी विचारसे अपने साधनको सिद्ध करनेकी चेष्टामें लगे रहते हैं कि इस जन्ममें नहीं तो दूसरेमें ही सही, किसी समय हम परमात्मभावको प्रकट कर ही लेंगे। इसके सिवाय सभीके चित्तमें यह स्फुरणा हुआ करती है कि मैं बराबर कायम रहूँगा। शरीर नष्ट होनेके बाद चेतनका अस्तित्व यदि न माना जाय तो व्यक्तिका उद्देश्य कितना संकुचित बन जाता है और कार्यक्षेत्र भी कितना अल्प रह

अंधार मलिन-सा दीखता है ? और बाह्य हजारों आवरणोंके होनेपर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपसे च्युत किस तरह नहीं होता ? वह अपनी उत्क्रान्तिके समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मोंको भी किस तरह हटा देता है ? वह अपनेमें वर्त्तमान परमात्म-भावको देखनेके लिये जिस समय उत्सुक होता है उस समय उसके और अन्तरायभूत कर्मके बीच कैसा द्वन्द्व (युद्ध) होता है ? अन्तमें वीर्यवान् आत्मा किस प्रकारके परिणामोंसे बलवान् कर्मोंको कमजोर करके अपने प्रगति-मार्गको निष्कण्टक करता है ? आत्ममन्दिरमें वर्तमान परमात्मदेवका साक्षात्कार करानेमें सहायक परिणाम, जिन्हें 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं, उनका क्या स्वरूप है ? जीव अपनी शुद्ध-परिणाम-तरंगमालाके वैद्युतिक यन्त्रसे कर्मके पहाड़ोंको किस कदर चूर-चूर कर डालता है ? कभी-कभी गुलाट खाकर कर्म ही, जो कुछ देरके लिये दबे होते हैं, वे ही प्रगतिशील आत्माको किस तरह नीचे पटक देते हैं ? कौन-कौन कर्म, बन्धकी व उदयकी अपेक्षा आपसमें विरोधी हैं ? किस कर्मका बन्ध किस अवस्थामें अवश्यम्भावी और किस अवस्थामें अनियत है ? किस कर्मका विपाक किस हालत तक नियत और किस हालतमें अनियत है ? आत्मसंबन्धी अती-न्द्रिय कर्मरज किस प्रकारकी आकर्षण शक्तिसे स्थूल पुद्गलोंको खींचा करती है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्मशरीर आदिका निर्माण किया करती है ? इत्यादि संख्यातीत प्रश्न, जो कर्मसे सम्बन्ध रखते हैं, उनका सयुक्तिक, विस्तृत व विशद खुलासा जैनकर्मसाहित्यके सिवाय अन्य किसी भी दर्शनके साहित्यसे नहीं किया जा सकता। यही कर्मशास्त्रके विषयमें जैनदर्शनकी विशेषता है।

ग्रन्थ-परिचय—संसारमें जितने प्रतिष्ठित सम्प्रदाय (धर्मसंस्थाएँ) हैं, उन सबका साहित्य दो विभागोंमें विभाजित है—तत्त्वज्ञान और आचार-क्रिया।

ये दोनों विभाग एक दूसरेसे बिलकुल ही अलग नहीं हैं। उनका सम्बन्ध वैसा ही है जैसा शरीरमें नेत्र और हाथ पैर आदि अन्य अवयवोंका। जैन सम्प्रदायका साहित्य भी तत्त्व-ज्ञान और आचार, इन दो विभागोंमें बँटा हुआ है। यह ग्रन्थ पहले विभागसे सम्बन्ध रखता है, अर्थात् इसमें विधिनिषेधात्मक क्रियाका वर्णन नहीं है, किन्तु इसमें वर्णन है तत्त्वका। यों तो जैनदर्शनमें अनेक तत्त्वोंपर विविध दृष्टिसे विचार किया है, पर इस ग्रन्थमें उन सबका वर्णन नहीं है। इसमें प्रधानतया कर्मतत्त्वका वर्णन है। आत्मवादी सभी दर्शन किसी-न-किसी रूपमें कर्मको मानते ही हैं, पर जैनदर्शन इस सम्बन्धमें अपनी असाधारण विशेषता रखता है अथवा यों कहिये कि कर्मतत्त्वके विचार-प्रदेशमें जैनदर्शन अपना सानी नहीं रखता, इसलिये इस ग्रन्थको जैनदर्शनकी विशेषताका या जैनदर्शनके विचारणीय तत्त्वका ग्रन्थ कहना उचित है।

विशेष परिचय—इस ग्रन्थका अधिक परिचय करनेके लिए इसके नाम, विषय, वर्णनक्रम, रचनाका मूलाधार, परिमाण, भाषा, कर्ता आदि अनेक बातोंकी ओर ध्यान देना जरूरी है।

नाम—इस ग्रन्थके 'कर्मविपाक' और 'प्रथम कर्मग्रन्थ' इन दो नामोंमें से पहला नाम तो विषयानुरूप है तथा उसका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकारने आदिमें "कम्मविवागं समासओ वुच्छं" तथा अन्तमें "इअ कम्मविवागोऽयं" इस कथनसे स्पष्ट ही कर दिया है। परन्तु दूसरे नामका उल्लेख कहीं भी

नहीं किया है। यह नाम केवल इसलिए प्रचलित हो गया है कि कर्मस्तव आदि अन्य कर्मविषयक ग्रन्थोंसे यह पहला है; इसके बिना पढ़े कर्मस्तव आदि अगले प्रकरणोंमें प्रवेश ही नहीं हो सकता। पिछला नाम इतना प्रसिद्ध है कि पढ़ने-पढ़ाने वाले तथा अन्य लोग प्रायः इसी नामसे व्यवहार करते हैं। पहला कर्मग्रन्थ, इस प्रचलित नामसे मूल नाम यहाँ तक अप्रसिद्धसा हो गया है कि कर्मविपाक कहनेसे बहुत लोग कहनेवालेका आशय ही नहीं समझते। यह बात इस प्रकरणके विषयमें ही नहीं, बल्कि कर्मस्तव आदि अग्रिम प्रकरणोंके विषयमें भी बराबर लागू पड़ती है। अर्थात् कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीतिक, शतक और सप्ततिका कहनेसे क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे प्रकरणका मतलब बहुत कम लोग समझेंगे; परन्तु दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा कर्मग्रन्थ कहनेसे सब लोग कहनेवालेका भाव समझ लेंगे।

विषय— इस ग्रन्थका विषय कर्मतत्त्व है, पर इसमें कर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातोंपर विचार न करके प्रकृति-अंश पर ही प्रधानतया विचार किया है, अर्थात् कर्मकी सब प्रकृतियोंका विपाक ही इसमें मुख्यतया वर्णन किया गया है। इसी अभिप्रायसे इसका नाम भी 'कर्मविपाक' रक्खा गया है।

वर्णन-क्रम— इस ग्रन्थमें सबसे पहले यह दिखाया है कि कर्मबन्ध स्वाभाविक नहीं, किन्तु सहेतुक है। इसके बाद कर्मका स्वरूप परिपूर्ण बतानेके लिये उसे चार अंशोंमें विभाजित किया है—प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश। इसके बाद आठ प्रकृतियोंके नाम और उनके उत्तर भेदोंकी संख्या बताई गई है। अनन्तर ज्ञानावरणीय कर्मके स्वरूपको दृष्टान्त, कार्य और कारण द्वारा दिखलानेके लिए आरम्भमें ग्रन्थकारने ज्ञान-

का निरूपण किया है। ज्ञानके पाँच भेदोंको और उनके अवान्तर भेदोंको संक्षेपमें, परन्तु तत्त्वरूपसे दिखाया है। ज्ञानका निरूपण करके उसके आवरणभूत कर्मका दृष्टान्त द्वारा उद्घाटन (खुलासा) किया है। अनन्तर दर्शनावरण कर्मको दृष्टान्तद्वारा समझाया है। पीछे उसके भेदोंको दिखलाते हुये दर्शन शब्दका अर्थ बतलाया है।

दर्शनावरणीय कर्मके भेदोंमें पाँच प्रकारकी निद्राओंका सर्वानुभवसिद्ध स्वरूप, संक्षेपमें, पर बड़ी मनोरंजकतासे वर्णन किया है। इसके बाद क्रमसे सुखदुःखजनक वेदनीयकर्म, सद्विश्वास और सचारित्रके प्रतिबन्धक मोहनीयकर्म, अक्षय जीवनके वरोधी आयुकर्म, गति, जाति आदि अनेक अवस्थाओंके जनक नामकर्म, उच्चनीचगोत्रजनक गोत्रकर्म और लाभ आदिमें रुकावट करनेवाले अन्तराय कर्मका तथा उन प्रत्येक कर्मके भेदोंका थोड़ेमें, किन्तु अनुभवसिद्ध वर्णन किया है। अन्तमें प्रत्येक कर्मके कारणको दिखाकर ग्रन्थ समाप्त किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थका प्रधान विषय कर्मका विपाक है, तथापि प्रसंगवश इसमें जो कुछ कहा गया है, उस सबको संक्षेपमें पाँच विभागोंमें बाँट सकते हैं:—

१—प्रत्येक कर्मके प्रकृति आदि चार अंशोंका कथन, २—कर्मकी मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ, ३—पाँच प्रकारके ज्ञान और चार प्रकारके दर्शनका वर्णन, ४—सब प्रकृतियोंका दृष्टान्तपूर्वक कार्य-कथन, ५—सब प्रकृतियोंके कारणका कथन।

आधार – यों तो यह ग्रन्थ कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि प्राचीनतर ग्रन्थोंके आधारपर रचा गया है, परन्तु इसका साक्षात् आधार प्राचीन कर्मविपाक है, जो श्री गर्गऋषिका

बनाया हुआ है। प्राचीन कर्मग्रन्थ १६६ गाथाप्रमाण होनेसे पहले पहल कर्मशास्त्रमें प्रवेश करनेवालोंके लिये बहुत विस्तृत हो जाता है, इसलिये उसका संक्षेप केवल ६१ गाथाओंमें कर दिया गया है। इतना संक्षेप होनेपर भी इसमें प्राचीन कर्मविपाककी खास व तात्त्विक बात कोई भी नहीं छूटी है। इतना ही नहीं, बल्कि संक्षेप करनेमें ग्रन्थकारने यहाँ तक ध्यान रक्खा है कि कुछ अतिउपयोगी नवीन विषय, जिनका वर्णन प्राचीन कर्मविपाकमें नहीं है, उन्हें भी इस ग्रन्थमें दाखिल कर दिया है। उदाहरणार्थ—श्रुतज्ञानके पर्याय आदि २० भेद तथा आठ कर्मप्रकृतियोंके बन्धके हेतु, प्राचीन कर्मविपाकमें नहीं हैं, पर इनका वर्णन इसमें है। संक्षेप करनेमें ग्रन्थकारने इस तत्वकी ओर भी ध्यान रक्खा है कि जिस एक बातका वर्णन करनेसे अन्य बातें भी समानताके कारण सुगमतासे समझी जा सकें वहाँ उस बातको ही बतलाना, अन्यको नहीं। इसी अभिप्रायसे, प्राचीन कर्मविपाकमें जैसे प्रत्येक मूल या उत्तर प्रकृतिका विपाक दिखाया गया है वैसे इस ग्रन्थमें नहीं दिखाया है। परन्तु आवश्यक वक्तव्यमें कुछ भी कमी नहीं की गई है। इसीसे इस ग्रन्थका प्रचार सर्वसाधारण हो गया है। इसके पढ़नेवाले प्राचीन कर्मविपाकको बिना टीका-टिप्पणके अनायास ही समझ सकते हैं। यह ग्रन्थ संक्षेपरूप होनेसे सबको मुख-पाठ करनेमें व याद रखनेमें बड़ी आसानी होती है। इसीसे प्राचीन कर्मविपाकके छप जानेपर भी इसकी चाह और माँगमें कुछ भी कमी नहीं हुई है। इस कर्मविपाककी अपेक्षा प्राचीन कर्मविपाक बड़ा है सही, पर वह भी उससे पुरातन ग्रन्थका संक्षेप ही है; यह बात उसकी आदिमें वर्तमान "वोच्छं कम्मविवागं गुरुवइट्ठं समासेणं" इस वाक्यसे स्पष्ट है।

भाषा—यह कर्मग्रन्थ तथा इसके आगेके अन्य सभी कर्मग्रन्थ मूल प्राकृत भाषामें हैं। इनकी टीका संस्कृतमें है। मूल गाथाएं ऐसी सुगम भाषामें रची हुई हैं कि पढ़नेवालोंको थोड़ा बहुत संस्कृतका बोध हो और उन्हें कुछ प्राकृतके नियम समझा दिये जायँ तो वे मूल गाथाओंके ऊपरसे ही विषयका परिज्ञान कर सकते हैं। संस्कृत टीका भी बड़ी विशद भाषामें खुलासेके साथ लिखी गई है, जिससे जिज्ञासुओंको पढ़नेमें बहुत सुगमता होती है।

## ग्रन्थकारकी जीवनी

समय—प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ता श्रीदेवेन्द्रसूरिका समय विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका अन्त और चौदहवीं शताब्दीका आरम्भ है। उनका स्वर्गवास वि० सं० १३२७ में हुआ, ऐसा उल्लेख गुर्वावलीके १७४ वें श्लोकमें स्पष्ट हैं; परन्तु उनके जन्म, दीक्षा, सूरिपद आदिके समयका उल्लेख कहीं नहीं मिलता; तथापि यह जान पड़ता है कि १२८५ में श्रीजगच्चन्द्रसूरिने तपागच्छकी स्थापना की, तब वे दीक्षित हुए होंगे। क्योंकि गच्छ-स्थापनाके बाद श्रीजगच्चन्द्रसूरिके द्वारा ही श्रीदेवेन्द्रसूरि और श्रीविजयचन्द्रसूरिको सूरिपद दिये जानेका वर्णन गुर्वावलीके १०७ वें श्लोकमें है। यह तो मानना ही पड़ता है कि सूरिपद ग्रहण करनेके समय श्री देवेन्द्रसूरि वय, विद्या और संयमसे स्थविर होंगे। अन्यथा इतने गुरुतर पदका और खास करके नवीन प्रतिष्ठित किये गये तपागच्छके नायकत्वका भार वे कैसे सम्हाल सकते?

उनका सूरिपद वि० सं० १२८५के बाद हुआ। सूरिपदका समय अनुमान वि० सं० १३०० मान लिया जाय, तब भी यह

कहा जा सकता है कि तपागच्छकी स्थापनाके समय ये नवदीक्षित होंगे। उनकी कुल उम्र ५० या ५२ वर्षकी मान ली जाय तो यह सिद्ध है कि वि० सं० १२७५ के लगभग उनका जन्म हुआ होगा। वि० सं० १३०२में उन्होंने उज्जयिनीमें श्रेष्ठिवर जिनचन्द्रके पुत्र वीरधवलको दीक्षा दी, जो आगे विद्यानन्दसूरिके नामसे विख्यात हुये। उस समय देवेन्द्रसूरिकी उम्र २५-२७ वर्षकी मान ली जाय तब भी उक्त अनुमानकी—१२७५के लगभग जन्म होनेकी पुष्टि होती है। अस्तु; जन्मका, दीक्षाका तथा सूरिपदका समय निश्चित न होनेपर भी इस बातमें कोई संदेह नहीं है कि ये विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके अन्तमें तथा चौदहवीं शताब्दीके आरम्भमें अपने अस्तित्वसे भारतवर्षकी, और खासकर गुजरात तथा मालवाकी शोभा बढ़ा रहे थे।

जन्मभूमि, जाति आदि—श्रीदेवेन्द्रसूरिका जन्म किस देशमें, किस जाति और किस परिवारमें हुआ? इसका कोई प्रमाण अब तक नहीं मिला। गुर्वावलीके पृष्ठ १०७ से आगे उनके जीवनका वृत्तान्त है, पर वह है बहुत संक्षिप्त। उसमें सूरिपद ग्रहण करनेके बादकी बातोंका उल्लेख है, अन्य बातोंका नहीं। इस लिये उसके आधारपर उनके जीवनके सम्बन्धमें जहाँ कहीं उल्लेख हुआ है वह अधूरा ही है। तथापि गुजरात और मालवामें उनका अधिक विहार, इस अनुमानकी सूचना कर सकता है कि वे गुजरात या मालवामें से किसी देशमें जन्मे होंगे। उनकी जाति और माता-पिताके सम्बन्धमें तो साधन-सामग्रीके [illegible] प्रकारके [illegible] अवकाश ही नहीं है।

विद्वत्ता और चारित्रतत्परता—श्रीदेवेन्द्रसूरिजी जैनशास्त्र-के पूरे विद्वान् थे, इसमें तो कोई सन्देह नहीं: क्योंकि इस बातकी गवाही उनके ग्रन्थ ही दे रहे हैं। अब तक उनका बनाया हुआ ऐसा कोई ग्रंथ देखनेमें नहीं आया, जिसमें उन्होंने स्वतन्त्र भावसे षड्दर्शनपर अपने विचार प्रकट किये हों; परन्तु गुर्वावलीके वर्णनसे पता चलता है कि वे षड्दर्शनके मार्मिक विद्वान् थे और इसीसे मन्त्रीश्वर वस्तुपाल तथा अन्य २ विद्वान् उनके व्याख्यानमें आया करते थे। यह कोई नियम नहीं है कि जो जिस विषयका पण्डित हो, वह उसपर ग्रंथ लिखे ही। कई कारणोंसे ऐसा नहीं भी हो सकता, परन्तु श्रीदेवेन्द्रसूरिका जैनागमविषयक ज्ञान हृदयस्पर्शी था, यह बात असन्दिग्ध है। उन्होंने पाँच कर्मग्रन्थ, जो 'नवीन कर्मग्रन्थ'के नामसे प्रसिद्ध हैं (और जिनमेंसे यह पहला है) सटीक रचे हैं। टीका इतनी विशद और सप्रमाण है कि उसे देखनेके बाद प्राचीन कर्मग्रन्थ या उसकी टीकायें देखनेकी जिज्ञासा एक तरह-से शांत हो जाती है। उनके संस्कृत तथा प्राकृत भाषामें रचे हुये अनेक ग्रंथ इस बातकी स्पष्ट सूचना करते हैं कि वे संस्कृत प्राकृत भाषाके प्रखर पण्डित थे।

श्रीदेवेन्द्रसूरि केवल विद्वान् ही न थे, किन्तु वे चारित्रधर्म में बड़े दृढ़ थे। इसके प्रमाणमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि उस समय क्रियाशिथिलको देखकर श्रीजगच्चन्द्रसूरिने बड़े पुरुषार्थ और निःसीम त्यागसे, जो क्रियोद्धार किया था, उसका निर्वाह श्रीदेवेन्द्रसूरिने ही किया। यद्यपि श्रीजगच्चन्द्रसूरिने श्रीदेवेन्द्रसूरि तथा श्रीविजयचन्द्रसूरि दोनोंको आचार्यपद-पर प्रतिष्ठित किया था, तथापि गुरुके आरम्भ किये हुये क्रियो-द्धारके दुर्धर कार्यको श्रीदेवेन्द्रसूरि ही सम्हाल सके। तत्कालीन

शिथिलाचार्य्योंका प्रभाव उनपर कुछ भी नहीं पड़ा। दूसरे उलटा श्रीविजयचन्द्रसूरि, विद्वान् होनेपर भी प्रमादके फंदेमें फँस गये और शिथिलाचारी हुवे। (गुर्वावलि पद्य १२२से आगे) अपने सहचारीको शिथिल देख, समझानेपर भी उनके न समझनेसे अन्तमें श्रीदेवेन्द्रसूरिने अपनी क्रियारुचिके कारण उनसे अलग होना पसंद किया। इससे यह बात साफ प्रमाणित होती है कि वे बड़े दृढ़ मनके और गुणानुरागी थे। उनका हृदय ऐसा संस्कारी था कि उसमें गुणका प्रतिबिम्ब तो शीघ्र पड़ जाता था, दोषका नहीं; क्योंकि १०वीं, ११वीं, १२वीं, १३वीं शताब्दीमें जो श्वेताम्बर तथा दिगम्बरके अनेक असाधारण विद्वान् हुवे, उनकी विद्वत्ता, ग्रन्थनिर्माणपटुता और चारित्रप्रियता आदि गुणोंका प्रभाव तो श्रीदेवेन्द्रसूरिके हृदयपर पड़ा, * परन्तु उस समय जो अनेक शिथिलाचारी थे, उनका असर इनपर कुछ भी नहीं पड़ा।

श्रीदेवेन्द्रसूरिके शुद्धक्रियापक्षपाती होनेसे अनेक मुमुक्षु, जो कल्याणार्थी व संविग्न-पाक्षिक थे, वे आकर उनसे मिल गये थे। इस प्रकार उन्होंने ज्ञानके समान चारित्रको भी स्थिर रखने व उन्नत करनेमें अपनी शक्तिका उपयोग किया था।

---

* उदाहरणार्थ—श्रीगर्गर्षि, जो दशवीं शताब्दीमें हुवे, उनके कर्मविपाकका संशोधन इन्होंने किया। श्रीजिनवल्लभगणी, जो ११ वीं शताब्दीमें हुवे, उनके रचित [illegible] प्रकरणके पद-[illegible] आदि बीस भेद इन्होंने कर्मग्रन्थमें दाखिल किये, जो श्वेताम्बरीय अन्य ग्रन्थोंमें सब तरह देखनेमें नहीं आते। श्रीमलयगिरिसूरि, जो १२वीं शताब्दीमें हुवे, उनके ग्रन्थके वाक्य इनके बनाये टीका आदिमें दृष्टिगोचर होते हैं।

गुरु—श्रीदेवेन्द्रसूरिके गुरु थे श्रीजगच्चन्द्रसूरि, जिन्होंने श्रीदेवभद्र उपाध्यायकी मददसे क्रियोद्धारका कार्य आरम्भ किया था। इस कार्यमें उन्होंने अपनी असाधारण त्यागवृत्ति दिखाकर औरोंके लिए आदर्श उपस्थित किया था। उन्होंने आजन्म आयंबिल व्रतका नियम लेकर घी, दूध आदिके लिए जैनशास्त्रमें व्यवहार किये गये विकृत शब्दको यथार्थ सिद्ध किया। इसी कठिन तपस्याके कारण वड़गच्छका 'तपागच्छ' नाम हुआ और वे तपागच्छके आदि सूत्रधार कहलाये। मन्त्रीश्वर वस्तुपालने गच्छपरिवर्तनके समय श्रीजगच्चन्द्रसूरीश्वरकी बहुत अर्चा-पूजा की। श्रीजगच्चन्द्रसूरि तपस्वी ही न थे, किन्तु वे प्रतिभाशाली भी थे; क्योंकि गुर्वावलीमें यह वर्णन है कि उन्होंने चित्तौड़की राजधानी अघाट (अहड़) नगरमें ३२ दिगम्बरवादियोंके साथ वाद किया था और उसमें वे हीरेके समान अभेद्य रहे थे। इस कारण चित्तौड़ नरेशकी ओरसे उनको 'हीरत्य'की पदवी (गुर्वावलि पद्य ८८ से आगे) मिली थी। उनकी कठिन तपस्या, शुद्ध बुद्धि और निरवद्य चारित्रके लिए यही प्रमाण बस है कि उनके स्थापित किये हुये तपागच्छके पाटपर आज तक † ऐसे विद्वान्, क्रियातत्पर और शासन प्रभावक आचार्य बराबर होते आये हैं कि जिनके सामने बादशाहोंने, हिन्दू नरपतियोंने और बड़े-बड़े विद्वानोंने सिर झुकाया है।

परिवार—श्रीदेवेन्द्रसूरिका परिवार कितना बड़ा था, इसका स्पष्ट खुलासा तो कहीं देखनेमें नहीं आया, पर (पद्य १५३ में) इतना लिखा मिलता है कि अनेक संविग्न मुनि,

† यथा श्रीहीरविजयसूरि, श्रीमद् न्यायविशारद महामहोपाध्याय यशोविजयगणि, श्रीमद् न्यायाम्भोनिधि विजयानन्दसूरि आदि।

उनके आश्रित थे। गुर्वावलीमें उनके दो शिष्य—श्रीविद्यानन्द और श्रीधर्मकीर्तिका उल्लेख है। ये दोनों भाई थे। 'विद्यानन्द' नाम, सूरिपदके पीछेका है। इन्होंने 'विद्यानन्द' नामका व्याकरण बनाया है। धर्मकीर्ति उपाध्यायने, जो सूरिपद होनेके बाद 'धर्मघोष' नामसे प्रसिद्ध हुए, भी कुछ ग्रन्थ रचे हैं। ये दोनों शिष्य, अन्य शास्त्रोंके अतिरिक्त जैनशास्त्रके अच्छे विद्वान् थे। इसका प्रमाण, उनके गुरु श्रीदेवेन्द्रसूरिकी कर्मग्रन्थकी वृत्तिके अन्तिम पद्यसे मिलता है। उन्होंने लिखा है कि 'मेरी बनाई हुई इस टीकाको श्रीविद्यानन्द और धर्मकीर्ति, दोनों विद्वानोंने शोधा है।' इन दोनोंका विस्तृत वृत्तान्त 'जैनतत्त्वादर्श'के १२वें परिच्छेदमें दिया है।

ग्रन्थ—श्रीदेवेन्द्रसूरिके कुछ ग्रन्थ, जिनका हाल मालूम हुआ है, उनके नाम नीचे लिखे जाते हैं:—१ श्राद्धदिनकृत्य सूत्रवृत्ति, २ सटीक पाँच नवीन कर्मग्रंथ, ३ सिद्धपंचाशिका सूत्रवृत्ति, ४ धर्मरत्नवृत्ति, ५ सुदर्शनचरित्र, ६ चैत्यवंदनादि भाष्यत्रय, ७ वंदारुवृत्ति, ८ सिरिउसहवद्धमाण प्रमुख स्तवन, ९ सिद्धदण्डिका, १० सारवृत्तिदशा।

इनमेंसे प्रायः बहुत ग्रन्थ 'जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर', 'आत्मानन्द-सभा भावनगर', और 'देवचंद-लालाभाई पुस्तकोद्धार-फण्ड सूरत'की ओरसे छप चुके हैं।

# कर्म विपाक

अर्थात्

# कर्म ग्रन्थ

❀ वन्दे वीरम् ❀

श्री देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मविपाक नामक

# प्रथम कर्मग्रन्थ

मङ्गल और कर्मका स्वरूपः—

सिरि वीरजिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं ॥ १ ॥

मैं ( सिरिवीरजिणं ) श्री वीर जिनेन्द्रको ( वंदिय ) नमस्कार करके ( समासओ ) संक्षेपसे ( कम्मविवागं ) कर्मविपाक नामक ग्रन्थको ( वुच्छं ) कहूँगा, ( जेणं ) जिस कारण, ( जिएण ) जीवके द्वारा ( हेउहिं ) हेतुओंसे मिथ्यात्व, कषाय आदिसे ( कीरइ ) किया जाता है—अर्थात् कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्य अपने अपने प्रदेशोंके साथ मिला लिया जाता है ( तो ) इसलिये वह आत्मसम्बद्ध पुद्गलद्रव्य, ( कम्मं ) कर्म ( भण्णए ) कहलाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—रागद्वेषके जीतनेवाले श्रीमहावीरको नमस्कार करके कर्मके अनुभवका जिसमें वर्णन है, ऐसे कर्म विपाक नामक ग्रन्थको संक्षेपसे कहूँगा। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-इन हेतुओंसे जीव, कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्यको अपने आत्मप्रदेशोंके साथ बांध लेता है इसलिये आत्मसम्बद्ध पुद्गलद्रव्यको कर्म कहते हैं।

श्री वीर—श्री शब्दका अर्थ है लक्ष्मी, उसके दो भेद हैं,

अन्तरंग और बाह्य। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्त वीर्य आदि आत्माके स्वाभाविक गुणोंको अन्तरंगलक्ष्मी कहते हैं। १ अशोकवृक्ष, २ सुरपुष्पवृष्टि, ३ दिव्यध्वनि, ४ चामर, ५ आसन, ६ भामण्डल, ७ दुन्दुभि, और ८ आतपत्र ये आठ महाप्रातिहार्य हैं, इनको बाह्यलक्ष्मी कहते हैं।

जिन—मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, आदि अन्तरंग शत्रुओंको जीतकर जिसने अपने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन आदि गुणोंको प्राप्त कर लिया है, उसे 'जिन' कहते हैं।

कर्म—पुद्गल उसे कहते हैं, जिसमें रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श हों, पृथ्वी, पानी, आग और हवा, पुद्गलके बने हैं। जो पुद्गल, कर्म बनते हैं, वे एक प्रकारकी अत्यन्त सूक्ष्म रज अथवा धूलि है जिसको इन्द्रियाँ, यन्त्रकी मददसे भी नहीं जान सकतीं। सर्वज्ञ परमात्मा अथवा परम अवधिज्ञान वाले योगी ही उस रज को देख सकते हैं; जीवके द्वारा जब वह रज, ग्रहण की जाती है तब उसे कर्म कहते हैं।

शरीरमें तेल लगाकर कोई धूलिमें लोटे, तो धूलि उसके शरीरमें चिपक जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय, योग आदि से जीवके प्रदेशोंमें जब परिस्पन्द होता है—अर्थात् हल चल होती है, तब, जिस आकाशमें आत्माके प्रदेश हैं, वहींके, अनन्त-अनन्तकर्मयोग्य पुद्गलपरमाणु, जीवके एक २ प्रदेशके साथ बन्ध जाते हैं। इस प्रकार जीव और कर्मका आपसमें बन्ध होता है। दूध और पानीका तथा आगका और लोहेके गोलेका जैसे सम्बन्ध होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गलका सम्बन्ध होता है।

कर्म और जीवका अनादि कालसे सम्बन्ध चला आता है। पुराने कर्म अपना फल देकर आत्मप्रदेशोंसे जुदे हो जाते हैं

और नये कर्म प्रति समय बन्धते जाते हैं। कर्म और जीवका सादि सम्बन्ध माननेसे यह दोष आता है कि "मुक्त जीवोंको भी कर्म-बन्ध होना चाहिये"।

कर्म और जीव का अनादि-अनन्त तथा अनादि सान्त दो प्रकारका सम्बन्ध है। जो जीव मोक्ष पा चुके हैं या पावेंगे उनका कर्मके साथ अनादि-सान्त सम्बन्ध है, और जिनका कभी मोक्ष न होगा उनका कर्मके साथ अनादि-अनन्त सम्बन्ध है। जिन जीवों में मोक्ष पानेकी योग्यता है उन्हें भव्य; और जिनमें योग्यता नहीं है उन्हें अभव्य कहते हैं।

जीवका कर्मके साथ अनादि कालसे सम्बन्ध होनेपर भी जब जन्म-मरण-रूप संसारसे छूटनेका समय आता है तब जीव को विवेक उत्पन्न होता है— अर्थात् आत्मा और जड़को भिन्नता मालूम हो जाती है। तप-ज्ञान-रूप अग्निके बलसे वह सम्पूर्ण कर्म-मलको जलाकर शुद्ध सुवर्णके समान निर्मल हो जाता है। यही शुद्ध आत्मा ईश्वर है, परमात्मा है अथवा ब्रह्म है।

श्री शंकराचार्य्य भी उक्त अवस्थामें पहुँचे हुये जीवको परब्रह्म-शब्द से स्मरण करते हैं:—

प्राक्कर्म्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां।
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥

अर्थात् ज्ञानबलसे पहले बांधे हुये कर्मोंको गला दो, नये कर्मोंका बन्ध मत होने दो और प्रारब्ध कर्मको भोगकर क्षीण कर दो, इसके बाद परब्रह्मस्वरूपसे अनन्त काल तक बने रहो। पुराने कर्मोंके गलानेको "निर्जरा" और नये कर्मोंके बन्ध न होने देनेको "संवर" कहते हैं।

जब तक शत्रुका स्वरूप समझमें नहीं आता तब तक उस

३—जीवके द्वारा ग्रहण किये हुये कर्मपुद्गलोंमें रसके तरतमभावका, अर्थात् फल देनेकी न्यूनाधिक शक्तिका होना, रसबन्ध कहलाता है। रसबन्धको अनुभागबन्ध और अनुभव-बन्ध भी कहते हैं।

४—जीवके साथ, न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धका सम्बन्ध होना, प्रदेशबन्ध कहलाता है। इस विषयका एक श्लोक इस प्रकार हैः—

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसञ्चयः॥

अर्थात्—स्वभावको प्रकृति कहते हैं, कालकी मर्यादाको स्थिति, अनुभागको रस और दलोंकी संख्याको प्रदेश कहते हैं।

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें प्रकृति आदिका स्वरूप यों समझना चाहियेः—

वातनाशक पदार्थों से—सोंठ, मिर्च, पीपल आदिसे बने हुये लड्डुओंका स्वभाव जिस प्रकार वायुके नाश करनेका है; पित्त-नाशक पदार्थोंसे बने हुये लड्डुओंका स्वभाव जिस प्रकार पित्त के दूर करनेका है; कफनाशक पदार्थोंसे बने हुये लड्डुओंका स्वभाव जिस प्रकार कफके नष्ट करनेका है, उसी प्रकार आत्मा के द्वारा ग्रहण किये हुये कुछ कर्म पुद्गलोंमें आत्माके ज्ञानगुणके घात करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है; कुछ कर्म पुद्गलोंमें आत्मा के दर्शनगुणको ढक देनेकी शक्ति पैदा होती है; कुछ कर्मपुद्गलों में आत्माके आनन्दगुणको छिपा देनेकी शक्ति पैदा होती है; कुछ कर्मपुद्गलोंमें आत्माकी अनन्त सामर्थ्यको दबा देनेकी शक्ति पैदा होती है, इस तरह भिन्न भिन्न कर्म पुद्गलोंमें, भिन्न भिन्न प्रकारकी प्रकृतियोंके अर्थात् शक्तियोंके बन्धको अर्थात् उत्पन्न होनेको प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

कुछ लड्डू एक सप्ताह तक रहते हैं, कुछ लड्डू एक पक्ष तक, कुछ लड्डू एक महीने तक, इस तरह लड्डुओंकी जुदी जुदी कालमर्यादा होती है; कालमर्यादाको स्थिति कहते हैं, स्थितिके पूर्ण होनेपर, लड्डु अपने स्वभावको छोड़ देते हैं अर्थात् बिगड़ जाते हैं; इसी प्रकार कोई कर्मदल आत्माके साथ सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक; कोई कर्मदल बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक; कोई कर्म दल अन्तर्मुहूर्त तक रहते हैं, इस तरह जुदे जुदे कर्मदलोंमें, जुदी जुदी स्थितियोंका अर्थात् अपने स्वभावको त्याग न कर आत्माके साथ बने रहनेकी कालमर्यादाओंका बन्ध अर्थात् उत्पन्न होना, स्थितिबन्ध कहलाता है। स्थितिके पूर्ण होनेपर कर्मदल अपने स्वभावको छोड़ देते हैं—आत्मासे भिन्न हो जाते हैं।

कुछ लड्डुओंमें मधुर रस अधिक, कुछ लड्डुओंमें कम; कुछ लड्डुओंमें कटुरस अधिक, कुछ लड्डुओंमें कम, इस तरह मधुर-कटु आदि रसोंकी न्यूनाधिकता देखी जाती है; उसी प्रकार कुछ कर्मदलोंमें शुभरस अधिक, कुछ कर्मदलोंमें कम; कुछ कर्मदलोंमें अशुभरस अधिक, कुछ कर्मदलोंमें कम, इस तरह विविध प्रकारके अर्थात् तीव्र तीव्रतर तीव्रतम, मन्द मन्दतर मन्दतम शुभ-अशुभ रसोंका कर्म पुद्गलोंमें बन्धना अर्थात् उत्पन्न होना, रसबन्ध कहलाता है।

शुभ कर्मोंका रस, ईख द्राक्षादिके रसके सदृश मधुर होता है जिसके अनुभवसे जीव खुश होता है। अशुभ कर्मोंका रस, नीम आदिके रसके सदृश कड़ुवा होता है, जिसके अनुभवसे जीव बुरी तरह घबरा उठता है। तीव्र, तीव्रतर आदिको समझनेके लिये दृष्टान्तके तौरपर ईख या नीमका चार चार सेर रस लिया जाय। इस रसको स्वाभाविक रस कहना चाहिये। आंचके द्वारा

औटाकर चार सेरकी जगह तीन सेर बच जाय तो उसे तीव्र कहना चाहिये; और औटानेसे दो सेर बच जाय तो तीव्रतर कहना चाहिये। और औटाकर एक सेर बच जाय तो तीव्रतम कहना चाहिये। ईख या नींमका एक सेर स्वाभाविक रस लिया जाय उसमें एक सेर पानीके मिलानेसे मन्द रस बन जायगा, दो सेर पानीके मिलानेसे मन्दतर रस बनेगा, तीन सेर पानीके मिलानेसे मन्दतम रस बनेगा।

कुछ लड्डुओंका परिमाण दो तोलेका; कुछ लड्डुओंका छटांकका और कुछ लड्डुओंका परिमाण पाव भरका होता है। उसी प्रकार कुछ कर्मदलोंमें परमाणुओंकी संख्या अधिक और कुछ कर्मदलोंमें कम। इस तरह भिन्न भिन्न प्रकारकी परमाणु संख्याओंसे युक्त कर्मदलोंका आत्मासे सम्बन्ध होना, प्रदेशबंध कहलाता है।

संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त परमाणुओंसे बने हुए स्कन्धको जीव ग्रहण नहीं करता किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओंसे बने हुए स्कन्धको ग्रहण करता है।

मूलप्रकृति—कर्मोंके मुख्य भेदोंको मूलप्रकृति कहते हैं।

उत्तरप्रकृति—कर्मोंके अवान्तर भेदोंको उत्तरप्रकृति कहते हैं।

कर्मकी मूलप्रकृतियोंके नाम और हर एक मूलप्रकृतिके अवान्तर भेदोंकी—उत्तर भेदोंकी संख्याः—

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥ ३ ॥

(इह) इस शास्त्रमें (नाणदंसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि)

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र (च) और (विग्घं) अन्तराय, ये आठ कर्म कहे जाते हैं। इनके क्रमशः (पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं) पाँच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, एक सौ तीन, दो और पाँच भेद हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—आठ कर्मोंके नाम ये हैं—१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय। पहले कर्मके उत्तरभेद पाँच, दूसरेके नव, तीसरेके दो, चौथेके अट्ठाईस, पाँचवेंके चार, छठेके एक सौ तीन, सातवेंके दो और आठवेंके उत्तरभेद पाँच हैं। इस प्रकार आठों कर्मोंके उत्तरभेदोंकी संख्या १५८ होती है।

चेतना आत्माका गुण है, उसके (चेतनाके) पर्यायको उपयोग कहते हैं। उपयोगके दो भेद हैं—ज्ञान और दर्शन। ज्ञानको साकार उपयोग कहते हैं और दर्शनको निराकार उपयोग। जो उपयोग पदार्थोंके विशेष धर्मोंका—जाति, गुण, क्रिया आदिका ग्राहक है, वह ज्ञान कहा जाता है और जो उपयोग पदार्थोंके सामान्यधर्मका अर्थात् सत्ताका ग्राहक है, उसे दर्शन कहते हैं।

१—जो कर्म, आत्माके ज्ञानगुणको आच्छादित करे—ढक देवे, उसे ज्ञानावरणीय कहते हैं।

२—जो कर्म आत्माके दर्शन गुणको आच्छादित करे, वह दर्शनावरणीय कहा जाता है।

३—जो कर्म आत्माको सुख दुःख पहुँचावे, वह वेदनीय कहा जाता है।

४—जो कर्म स्व-पर-विवेकमें तथा स्वरूपरमणमें बाधा पहुँचाता है, वह मोहनीय कहा जाता है; अथवा—जो कर्म आत्माके सम्यक्त्व गुणका और चारित्र गुणका घात करता है, उसे मोहनीय कहते हैं।

५—जिस कर्मके अस्तित्वसे ( रहनेसे ) प्राणी जीता है तथा क्षय होनेसे मरता है, उसे आयु कहते हैं।

६—जिस कर्मके उदयसे जीव नारक, तिर्यञ्च आदि नामोंसे सम्बोधित होता है अर्थात् अमुक जीव नारक है, अमुक तिर्यञ्च है, अमुक मनुष्य है, अमुक देव है, इस प्रकार कहा जाता है, उसे नाम कहते हैं।

७—जो कर्म, आत्माको उच्च तथा नीच कुलमें जन्मावे उसे गोत्र कहते हैं।

८—जो कर्म आत्माके वीर्य, दान, लाभ, भोग, और उपभोग रूप शक्तियोंका घात करता है, वह अन्तराय कहा जाता है।

ज्ञानावरणीयकी पांच उत्तरप्रकृतियोंको कहनेके लिये पहले ज्ञानके भेद दिखलाते हैं:—

मइसुयओहीमणकेवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं।
वंजणवग्गहचउहा मणनयणविणिंदियचउक्का ॥ ४ ॥

( मइसुयओहीमणकेवलाणि ) मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल ये पांच ( नाणाणि ) ज्ञान हैं। ( तत्थ ) उनमें पहला ( मइनाणं ) मतिज्ञान अट्ठाईस प्रकारका है, सो इस प्रकार—( मणनयणविणिंदियचउक्का ) मन और आंखके सिवा, अन्य चार इन्द्रियोंको लेकर ( वंजणवग्गह ) व्यञ्जनावग्रह ( चउहा ) चार प्रकारका है ॥ ४ ॥

भावार्थ—अब आठ कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियां क्रमशः कही जायेंगी। प्रथम ज्ञानावरणीय कर्म है, उसकी उत्तर प्रकृतियोंको समझानेके लिये ज्ञानके भेद दिखाते हैं, क्योंकि ज्ञानके भेद समझमें आजानेसे, उनके आवरण सरलतासे समझमें आ सकते

हैं। ज्ञानके मुख्य भेद पाँच हैं, उनके नाम १ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मनःपर्यायज्ञान और ५ केवलज्ञान। इन पाँचोंके हर-एकके अवान्तर भेद अर्थात् उत्तर भेद हैं। मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद हैं। चार इस गाथामें कहे गये; बाकीके अगली गाथामें कहे जावेंगे। इस गाथामें कहे हुए चार भेदोंके नाम यह हैं—स्पर्शनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, घ्राणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह, रसनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह और श्रवणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह। आँख और मनसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता। कारण यह है कि आँख और मन, ये दोनों पदार्थोंसे अलग रहकर ही उनको ग्रहण करते हैं; और व्यंजनावग्रहमें तो इन्द्रियोंका पदार्थोंके साथ संयोग सम्बन्धका होना आवश्यक है। आँख और मन 'अप्राप्यकारी' कहलाते हैं, और अन्य इन्द्रियाँ 'प्राप्यकारी'। पदार्थोंसे मिलकर उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ प्राप्यकारी और पदार्थोंसे बिना मिले ही उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं। तात्पर्य यह है कि, जो इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, उन्हींसे व्यञ्जनावग्रह होता है, अप्राप्यकारीसे नहीं। आँखोंमें डाला हुआ अंजन, आँखसे नहीं दीखता; और मन, शरीरके अन्दर रहकर ही बाहरी पदार्थोंको ग्रहण करता है, अतएव ये दोनों प्राप्यकारी नहीं हो सकते।

१—इन्द्रिय और मनके द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

२—शास्त्रोंके बाँचने तथा सुननेसे जो अर्थज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है।

अथवा—मतिज्ञानके अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थकी पर्यालोचना जिसमें हो, ऐसा ज्ञान, श्रुतज्ञान कहलाता है। जैसे कि घट शब्दके सुननेपर अथवा आँखसे घड़ेके देखने

पर, उसके बनाने वालेका, उसके रंगका अर्थात् तत्सम्बन्धी भिन्न भिन्न विषयोंका विचार करना, श्रुतज्ञान कहलाता है।

३—इन्द्रिय तथा मनकी सहायताके बिना, मर्यादाको लिये हुए, रूपवाले द्रव्यका जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

४—इन्द्रिय और मनकी मददके बिना, मर्यादाको लिये हुए संज्ञी जीवोंके मनोगत भावोंको जानना, मनःपर्यायज्ञान कहा जाता है।

५—संसारके भूत भविष्यत् तथा वर्तमान कालके सम्पूर्ण पदार्थोंका युगपत् (एक साथ) जानना, केवलज्ञान कहा जाता है।

आदिके दो ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, निश्चय नयसे परोक्ष ज्ञान हैं, और व्यवहार नयसे प्रत्यक्ष ज्ञान।

अन्तके तीन ज्ञान-अवधि ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। केवल ज्ञानको सकल प्रत्यक्ष कहते हैं और अवधि ज्ञान तथा मनःपर्यवज्ञानको देशप्रत्यक्ष।

आदिके दो ज्ञानोंमें इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रहती है; किन्तु अन्तके तीन ज्ञानोंमें इन्द्रिय मनकी अपेक्षा नहीं रहती।

व्यञ्जनावग्रह—अव्यक्त ज्ञानरूप-अर्थावग्रहसे पहले होने वाला, अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान, व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियोंका पदार्थके साथ जब सम्बन्ध होता है तब "किमपीदम्" (यह कुछ है) ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे अर्थावग्रह कहते हैं। उससे पहले होने वाला, अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान, व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। यह व्यञ्जनावग्रह पदार्थकी सत्ताके ग्रहण करनेपर होता है अर्थात् प्रथम सत्ताकी प्रतीति होती है, बादमें व्यञ्जनावग्रह।

स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह— स्पर्शन-इन्द्रियके द्वारा जो

हैं। ज्ञानके मुख्य भेद पाँच हैं; उनके नाम १ मतिज्ञान, २ श्रुत-ज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मनःपर्यायज्ञान और ५ केवलज्ञान। इन पाँचोंके हर-एकके अवान्तर भेद अर्थात् उत्तर भेद हैं। मति-ज्ञानके अट्ठाईस भेद हैं। चार इस गाथामें कहे गये; बाकीके अगली गाथामें कहे जायँगे। इस गाथामें कहे हुए चार भेदोंके नाम यह हैं—स्पर्शनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, घ्राणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह, रसनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह और श्रवणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह। आँख और मनसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता। कारण यह है कि आँख और मन, ये दोनों पदार्थोंसे अलग रहकर ही उनको ग्रहण करते हैं; और व्यंजनावग्रहमें तो इन्द्रियोंका पदार्थोंके साथ संयोग सम्बन्धका होना आवश्यक है। आँख और मन 'अप्राप्यकारी' कहलाते हैं, और अन्य इन्द्रियाँ 'प्राप्यकारी'। पदार्थोंसे मिलकर उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ प्राप्यकारी और पदार्थोंसे बिना मिले ही उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं। तात्पर्य यह है कि, जो इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, उन्हींसे व्यञ्जनाव-ग्रह होता है, अप्राप्यकारीसे नहीं। आँखोंमें डाला हुआ अंजन, आँखसे नहीं दीखता; और मन, शरीरके अन्दर रहकर ही बाहरी पदार्थोंको ग्रहण करता है, अतएव ये दोनों प्राप्यकारी नहीं हो सकते।

१—इन्द्रिय और मनके द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मति-ज्ञान कहते हैं।

२—शास्त्रोंके बाँचने तथा सुननेसे जो अर्थज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है।

अथवा—मतिज्ञानके अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थकी पर्यालोचना जिसमें हो, ऐसा ज्ञान, श्रुतज्ञान कहलाता है। जैसे कि घट शब्दके सुननेपर अथवा आँखसे घड़ेके देखने

पर, उसके बनाने वालेका, उसके रंगका अर्थात् तत्सम्बन्धी भिन्न भिन्न विषयोंका विचार करना, श्रुतज्ञान कहलाता है।

३—इन्द्रिय तथा मनकी सहायताके बिना, मर्यादाको लिये हुए, रूपवाले द्रव्यका जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

४—इन्द्रिय और मनकी मददके बिना, मर्यादाको लिये हुए संज्ञी जीवोंके मनोगत भावोंको जानना, मनःपर्यायज्ञान कहा जाता है।

५—संसारके भूत भविष्यत् तथा वर्तमान कालके सम्पूर्ण पदार्थोंका युगपत् (एक साथ) जानना, केवलज्ञान कहा जाता है।

आदिके दो ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, निश्चय नयसे परोक्ष ज्ञान हैं, और व्यवहार नयसे प्रत्यक्ष ज्ञान।

अन्तके तीन ज्ञान—अवधि ज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। केवल ज्ञानको सकल प्रत्यक्ष कहते हैं और अवधि ज्ञान तथा मनःपर्यवज्ञानको देशप्रत्यक्ष।

आदिके दो ज्ञानोंमें इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रहती है; किन्तु अन्तके तीन ज्ञानोंमें इन्द्रिय मनकी अपेक्षा नहीं रहती।

व्यञ्जनावग्रह—अव्यक्त ज्ञानरूप-अर्थावग्रहसे पहले होने वाला, अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान, व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियोंका पदार्थके साथ जब सम्बन्ध होता है तब "किमपीदम्" (यह कुछ है) ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे अर्थावग्रह कहते हैं। उससे पहले होनेवाला, अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान, व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। यह व्यञ्जनावग्रह पदार्थकी सत्ताके ग्रहण करनेपर होता है अर्थात् प्रथम सत्ताकी प्रतीति होती है, बादमें व्यञ्जनावग्रह।

स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह—स्पर्शन-इन्द्रियके द्वारा जो

अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान होता है, यह स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह है। इसी प्रकार तीनों इन्द्रियोंसे होने वाले व्यञ्जनावग्रहोंको भी समझना चाहिये।

व्यञ्जनावग्रहका जघन्य काल, आवलिकाके असंख्यातवें भाग जितना है, और उत्कृष्ट काल श्वासोच्छ्वासपृथक्त्व अर्थात् दो श्वासोच्छ्वाससे लेकर नव श्वासोच्छ्वास तक है।

मतिज्ञानके शेष भेद तथा श्रुतज्ञानके उत्तर भेदोंकी संख्याः—

अत्थुग्गह ईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा।
इय अट्ठवीसभेयं चउदसहा वीसहा व सुयं ॥५॥

(अत्थुग्गहईहावायधारणा) अर्थावग्रह, ईहा, अपाय, और धारणा, ये प्रत्येक, (करणमाणसेहिं) करण अर्थात् पाँच इन्द्रियां और मनसे होते हैं इसलिये (छहा) छः प्रकारके हैं (इय) इस प्रकार, मतिज्ञानके (अट्ठवीसभेयं) अट्ठाईस भेद हुये (सुयं) श्रुतज्ञान (चउदसहा) चौदह प्रकारका (व) अथवा (वीसहा) वीस प्रकारका है ॥ ५ ॥

भावार्थ— मतिज्ञानके अट्ठाईस भेदोंमेंसे चार भेद पहले कह चुके हैं। अब शेष चौवीस भेद यहां दिखलाते हैं:— १ अर्थावग्रह, २ ईहा, ३ अपाय और ४ धारणा, ये चार, मतिज्ञानके भेद हैं। ये चारों, पांचों इन्द्रियोंसे तथा मनसे होते हैं, इसलिये प्रत्येकके छः २ भेद हुये। छः को चारसे गुणनेपर चौवीस संख्या हुई। श्रुतज्ञानके चौदह भेद होते हैं, और वीस भेद भी होते हैं।

१—पदार्थके अव्यक्त ज्ञानको अर्थावग्रह कहते हैं. जैसे "यह कुछ है।" अर्थावग्रहमें भी पदार्थके वर्ण, गन्ध आदिका ज्ञान

नहीं होता। इसके छह भेद हैं-१ स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह, २ रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह, ३ घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह, ४ चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह, ५ श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह, और ६ मननोइन्द्रिय अर्थावग्रह। अर्थावग्रहका काल प्रमाण एक समय है।

२—अवग्रहसे जाने हुये पदार्थके विषयमें धर्म-विषयक विचारणाको ईहा कहते हैं, जैसे कि "यह खम्भा ही होना चाहिये, मनुष्य नहीं।" ईहाके भी छह भेद हैं:—स्पर्शनेन्द्रिय ईहा, रसनेन्द्रिय ईहा इत्यादि। इस प्रकार आगे अपाय और धारणाके भेदोंको समझना चाहिये। ईहाका काल, अन्तर्मुहूर्त है।

३—ईहासे जाने हुये पदार्थके विषय में "यह खम्भा ही है, मनुष्य नहीं" इस प्रकारके धर्म-विषयक निश्चयात्मक ज्ञानको अपाय कहते हैं। अपाय और अवाय दोनोंका मतलब एक ही है। अपायका काल-प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

४—अपायसे जाने हुये पदार्थका कालान्तरमें विस्मरण न हो ऐसा जो दृढ़ ज्ञान होता है उसे धारणा कहते हैं अर्थात् अपाय से जाने हुये पदार्थका कालान्तरमें स्मरण हो सके, इस प्रकार के संस्कार वाले ज्ञानको धारणा कहते हैं। धारणाका काल प्रमाण संख्यात् तथा असंख्यात वर्षोंका है।

मतिज्ञानको आभिनिबोधिकज्ञान भी कहते हैं। जातिस्मरण अर्थात पूर्व जन्मका स्मरण होना, यह भी मतिज्ञान ही है। ऊपर कहे हुये अट्ठाईस प्रकारके मतिज्ञानके हर एक के बारह बारह भेद होते हैं, जैसे, १ बहु, २ अल्प, ३ बहुविध, ४ एकविध, ५ क्षिप्र, ६ चिर, ७ अनिश्रित, ८ निश्रित, ९ सन्दिग्ध १० असन्दिग्ध, ११ ध्रुव और १२ अध्रुव। शंख, नगाड़े आदि कई वाद्योंके शब्दोंमेंसे क्षयोपशमकी विचित्रताके कारण, १

कोई जीव बहुतसे बाद्योंके पृथक् पृथक् शब्द सुनता है; कोई २ जीव अल्प शब्दको सुनता है; ३ कोई जीव प्रत्येक वाद्यके शब्द के, तार मन्द्र आदि बहुत प्रकारके विशेषोंको जानता है, ४ कोई साधारण तौरसे एक ही प्रकारके शब्दको सुनता है, ५ कोई जल्दीसे सुनता है, ६ कोई देरीसे सुनता है, ७ कोई ध्वजाके द्वारा देव मन्दिरको जानता है, ८ कोई बिना पताकाके ही उसे जानता है, ९ कोई संशय सहित जानता है, १० कोई बिना संशय के जानता है, ११ किसीको जैसा पहिले ज्ञान हुआ था वैसा ही पीछे भी होता है, उसमें कोई फर्क नहीं होता, उसे ध्रुवग्रहण कहते हैं, १२ किसीके पहले तथा पीछे होनेवाले ज्ञानमें न्यूनाधिक रूप फर्क हो जाता है, उसे अध्रुवग्रहण कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियके अवग्रह, ईहा, अपाय आदिके भेद समझना चाहिये। इस तरह श्रुतनिश्रित मतिज्ञानके २८ को १२ से गुणनेपर ३३६ भेद होते हैं। अश्रुतनिश्रित मतिज्ञानके चार भेद हैं। उनको ३३६ में मिलानेसे मतिज्ञानके ३४० भेद होते हैं। अश्रुतनिश्रितके चार भेद—१ औत्पातिकी बुद्धि, २ वैनयिकी, ३ कार्मिकी और ४ पारिणामिकी।

( १ ) औत्पातिकी बुद्धि—किसी प्रसंगपर, कार्य सिद्ध करने में एकाएक प्रकट होती है।

( २ ) वैनयिकी—गुरुओंकी सेवासे प्राप्त होने वाली बुद्धि।

( ३ ) कार्मिकी—अभ्यास करते करते प्राप्त होने वाली बुद्धि।

( ४ ) पारिणामिकी—दीर्घायुको बहुत काल तक संसारके अनुभवसे प्राप्त होने वाली बुद्धि।

## श्रुतनिश्रित मतिज्ञानके अट्ठाईस भेदोंका यन्त्र

| स्पर्शन-इन्द्रिय | घ्राण-इन्द्रिय | रसन-इन्द्रिय | श्रवण-इन्द्रिय | चक्षुः-इन्द्रिय | मन-नोइन्द्रिय | २८ |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ व्यञ्जन अवग्रह | १ व्यञ्जन-अवग्रह | १ व्यञ्जन-अवग्रह | १ व्यञ्जन-अवग्रह | ० | ० | ४ |
| २ अर्थ अवग्रह | २ अर्थ अवग्रह | २ अर्थ-अवग्रह | २ अर्थ-अवग्रह | १ अर्थ-अवग्रह | १ अर्थ-अवग्रह | ६ |
| ३ ईहा | ३ ईहा | ३ ईहा | ३ ईहा | २ ईहा | २ ईहा | ६ |
| ४ अपाय | ४ अपाय | ४ अपाय | ४ अपाय | ३ अपाय | ३ अपाय | ६ |
| ५ धारणा | ५ धारणा | ५ धारणा | ५ धारणा | ४ धारणा | ४ धारणा | ६ |

श्रुतज्ञानके चौदह भेदः—

अक्खर सन्नी सम्मं साइअं खलु सपज्जवसिगं च ।
गमियं अंगपविट्ठं सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥ ६ ॥

( अक्खर ) अक्षरश्रुत, ( सन्नी ) संज्ञिश्रुत, ( सम्मं ) सम्यक्श्रुत ( साइअं ) सादिश्रुत ( च ) और ( सपज्जवसियं ) सपर्यवसितश्रुत ( गमियं ) गमिकश्रुत और ( अंगपविट्ठं ) अंगप्रविष्टश्रुत ( एए ) ये ( सत्तवि ) सातों श्रुत, ( सपडिवक्खा ) सप्रतिपक्ष हैं ॥ ६ ॥

१४—अङ्गबाह्यश्रुत—द्वादशाङ्गीसे जुदा, दशवैकालिक-उत्तराध्ययन-प्रकरणादिका ज्ञान, अङ्गबाह्यश्रुत कहा जाता है।

सादिश्रुत, अनादिश्रुत, सपर्यवसितश्रुत और अपर्यवसित-श्रुत-ये प्रत्येक, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे चार चार प्रकारके हैं। जैसे—द्रव्यको लेकर एक जीवकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान, सादि-सपर्यवसित है अर्थात् जब जीवको सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, तब साथमें श्रुतज्ञान भी हुआ, और जब वह सम्यक्त्वका वमन (त्याग) करता है तब, अथवा केवली होता है तब श्रुतज्ञानका अन्त हो जाता है। इस प्रकार एक जीवकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान, सादि-सान्त है।

सब जीवोंकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है; क्योंकि संसारमें पहले पहल अमुक जीवको श्रुतज्ञान हुआ तथा अमुक जीवके मुक्त होनेसे श्रुतज्ञानका अन्त होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता अर्थात् प्रवाह रूपसे सब जीवोंकी अपेक्षासे श्रुत-ज्ञान, अनादि-अनन्त है।

क्षेत्रकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान, सादि-सान्त तथा अनादि-अनन्त है। जब भरत तथा ऐरावत क्षेत्रमें तीर्थकी स्थापना होती है, तबसे द्वादशाङ्गी-रूप श्रुतकी आदि और जब तीर्थका विच्छेद होता है, तब श्रुतका भी अन्त हो जाता है, इस प्रकार श्रुतज्ञान सादि-सान्त हुआ। महाविदेह क्षेत्रमें तीर्थका विच्छेद कभी नहीं होता इसलिए वहाँ श्रुतज्ञान, अनादि-अनन्त है।

कालकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान सादि-सान्त और अनादि-अनन्त है। उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान सादि-सान्त है; क्योंकि तीसरे आरेके अन्तमें और चौथे तथा पाँचवें आरेमें रहता है और छठे आरेमें नष्ट हो जाता है। नो-उत्सर्पिणी-नोअवसर्पिणी कालकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान अनादि

अनन्त है। महाविदेह क्षेत्रमें नोउत्सर्पिणी-नोअवसर्पिणी काल है अर्थात् उक्त क्षेत्र उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीरूप कालका विभाग नहीं है। भावकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान सादि-सान्त तथा अनादि अनन्त है। भव्यकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान सादि-सान्त तथा अभव्यकी अपेक्षासे कुश्रुत, अनादि-अनन्त है। भव्यत्व और अभव्यत्व दोनों जीवके पारिणामिक भाव हैं। यहां श्रुत शब्दसे सम्यक्श्रुत तथा कुश्रुत दोनों लिए गये हैं। सपर्यवसित और सान्त दोनोंका अर्थ एक ही है। इसी तरह अपर्यवसित और अनन्त दोनोंका अर्थ एक है।

श्रुतज्ञानके बीस भेदः—

पज्जय अक्खर पय संघाया पडिवत्ति तहय अणुओगो।
पाहुडपाहुड पाहुड वत्थू पुव्वा य, ससमासा ॥ ७ ॥

(पज्जय) पर्यायश्रुत, (अक्खर) अक्षरश्रुत, (पय) पदश्रुत, (संघाय) संघातश्रुत, (पडिवत्ति) प्रतिपत्तिश्रुत (तहय) उसी प्रकार (अणुओगो) अनुयोगश्रुत, (पाहुडपाहुड) प्राभृत प्राभृतश्रुत, (पाहुड) प्राभृतश्रुत, (वत्थू) वस्तुश्रुत (य) और (पुव्य) पूर्वश्रुत, ये दसों (ससमासा) समास सहित हैं। अर्थात् दसोंके साथ "समास" शब्दको जोड़नेसे दूसरे दस भेद भी होते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस गाथामें श्रुतज्ञानके बीस भेद कहे गये हैं। उनके नामः—१ पर्यायश्रुत, २ पर्यायसमासश्रुत, ३ अक्षरश्रुत, ४ अक्षरसमासश्रुत, ५ पदश्रुत, ६ पदसमासश्रुत, ७ संघातश्रुत, ८ संघातसमासश्रुत, ९ प्रतिपत्तिश्रुत, १० प्रतिपत्तिसमासश्रुत, ११ अनुयोगश्रुत, १२ अनुयोगसमासश्रुत, १३ प्राभृत-प्राभृतश्रुत, १४ प्राभृतप्राभृतसमासश्रुत, १५ प्राभृतश्रुत, १६ प्राभृतसमास-

श्रुत, १७ वस्तुश्रुत, १८ वस्तुसमासश्रुत, १९ पूर्वश्रुत, २० पूर्वसमासश्रुत।

१—उत्पत्तिके प्रथम समयमें, लब्धिअपर्याप्त, सूक्ष्म निगोदके जीवको जो कुश्रुतका अंश होता है, उससे दूसरे समयमें ज्ञानका जितना अंश बढ़ता है, वह पर्यायश्रुत है।

२—उक्त पर्यायश्रुतके समुदायको अर्थात् दो, तीन, आदि संख्याओंको पर्यायसमासश्रुत कहते हैं।

३—अकार आदि लब्ध्यक्षरोंमेंसे किसी एक अक्षरको अक्षरश्रुत कहते हैं।

४—लब्ध्यक्षरोंके समुदायको अर्थात् दो, तीन आदि संख्याओंको अक्षरसमासश्रुत कहते हैं।

५—जिस अक्षर समुदायसे पूरा अर्थ मालूम हो वह पद, और उसके ज्ञानको पदश्रुत कहते हैं।

६—पदोंके समुदायका ज्ञान पदसमासश्रुत है।

७—गति आदि चौदह मार्गणाओंमेंसे, किसी एक मार्गणाके एक देशके ज्ञानको संघातश्रुत कहते हैं। जैसे गति मार्गणाके चार अवयव हैं, देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नारकगति। इनमेंसे एकका ज्ञान संघातश्रुत है।

८—किसी एक मार्गणाके अनेक अवयवोंका ज्ञान, संघातसमासश्रुत है।

९—गति, इन्द्रिय आदि द्वारोंमेंसे किसी एक द्वारके जरिये समस्त संसारके जीवोंको जानना, प्रतिपत्तिश्रुत है।

१०—गति आदि दो चार द्वारोंके जरिये जीवोंका ज्ञान, प्रतिपत्तिसमास श्रुत है।

११—"संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च" इस गाथामें कहे हुये

अनुयोग द्वारोंमेंसे किसी एकके द्वारा जीवादि पदार्थोंको जानना अनुयोग श्रुत है।

१२—एकसे अधिक दो तीन अनुयोग द्वारोंका ज्ञान, अनुयोग-समासश्रुत है।

१३—दृष्टिवादके अन्दर प्राभृत प्राभृत नामके अधिकार हैं, उनमेंसे किसी एकका ज्ञान प्राभृत-प्राभृत श्रुत है।

१४—दो, चार प्राभृत-प्राभृतोंके ज्ञानको प्राभृतप्राभृतसमास-श्रुत कहते हैं।

१५—जिस प्रकार कई उद्देश्योंका एक अध्ययन होता है, वैसे ही कई प्राभृतप्राभृतोंका एक प्राभृत होता है, उसका एकका ज्ञान, प्राभृतश्रुत है।

१६—एकसे अधिक प्राभृतोंका ज्ञान, प्राभृतसमास श्रुत है।

१७—कई प्राभृतोंका एक वस्तु नामक अधिकार होता है उसका एकका ज्ञान, वस्तुश्रुत है।

१८—दो चार वस्तुओंका ज्ञान, वस्तुसमास श्रुत है।

१९—अनेक वस्तुओंका एक पूर्व होता है। उसका एकका ज्ञान, पूर्वश्रुत है।

२०—दो चार यावत् चौदह पूर्वोंका ज्ञान, पूर्वसमासश्रुत है।

चौदह पूर्वोंके नाम ये हैं—१ उत्पाद, २ आग्रायणीय, ३ वीर्यप्रवाद, ४ अस्तिप्रवाद, ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद, ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९ प्रत्याख्यानप्रवाद, १० विद्याप्रवाद, ११ कल्याण, १२ प्राणवाद, १३ क्रियाविशाल, और १४ लोक-बिन्दुसार। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान चार प्रकारका है। शास्त्रके बलसे, श्रुतज्ञानी साधारणतया सब द्रव्य, सब क्षेत्र, सब काल और सब भावोंको जानते हैं।

शक्ति अवधिज्ञानीमें होती है। अवधिज्ञानके सामर्थ्यको दिखलाने के लिए असत्कल्पना की गई है।

काल—कमसे कम, अवधिज्ञानी आवलिकाके असंख्यातवें भाग जितने कालके रूपिद्रव्योंको जानता तथा देखता है और अधिकसे अधिक, असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण, अतीत और अनागत कालके रूपिपदार्थोंको जानता तथा देखता है।

भाव—कमसे कम, अवधिज्ञानी रूपिद्रव्यके अनन्त भावों को—पर्यायोंको जानता तथा देखता है। और अधिकसे अधिक भी अनन्त भावोंको जानता तथा देखता है। अनन्तके अनन्त भेद होते हैं, इसलिए जघन्य और उत्कृष्ट अनन्तमें फर्क समझना चाहिए। उक्त अनन्त भाव, सम्पूर्ण भावोंके अनन्तवें भाग जितना है। जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवके मति तथा श्रुतको मतिअज्ञान तथा श्रुत अज्ञान कहते हैं, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवके अवधिको विभंग कहते हैं।

मनःपर्यायज्ञानके दो भेद हैं;—१ ऋजुमति और २ विपुलमति।

१—दूसरेके मनमें स्थित पदार्थके सामान्य स्वरूपको जानना अर्थात् इसने घड़ेको लाने तथा रखनेका विचार किया है, इत्यादि साधारण रूपसे जानना, ऋजुमति ज्ञान कहलाता है।

२—दूसरेके मनमें स्थित पदार्थके अनेक पर्यायोंको जानना अर्थात् इसने जिस घड़ेका विचार किया है वह अमुक धातुका है, अमुक जगहका बना हुआ है, अमुक रंगका है, इत्यादि विशेष अवस्थाओंके जाननेको विपुलमतिज्ञान कहते हैं। अथवा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा मनःपर्यायज्ञानके चार भेद हैं।

द्रव्यसे—ऋजुमति मनोवर्गणाके अनन्त प्रदेशवाले अनन्त स्कन्धोंको देखता है और विपुलमति, ऋजुमतिकी अपेक्षा अधिक प्रदेशोंवाले स्कन्धोंको अधिक स्पष्टतासे देखता है।

क्षेत्रसे—ऋजुमति तिरछी दिशामें ढाई द्वीप; उर्ध्व दिशा में ( ऊपर ) ज्योतिश्चक्रके ऊपरका तल और अधोदिशामें (नीचे) कुबड़ी उंडोविजय तकके संज्ञीजीवके मनोगत भावोंको देखता है। विपुलमति, ऋजुमतिकी अपेक्षा ढाई अंगुल अधिक तिरछे क्षेत्रके संज्ञी जीवके मनोगत भावोंको देखता है।

कालसे—ऋजुमति पल्योपमके असंख्यातवें भाग जितने भूतकाल तथा भविष्य कालके मनोगत भावोंको देखता है। विपुलमति, ऋजुमतिकी अपेक्षा कुछ अधिक कालके, मनसे, चिन्तित, या मनसे जिनका चिन्तन होगा, ऐसे पदार्थोंको देखता है।

भावसे—ऋजुमति मनोगत द्रव्यके असंख्यात पर्यायोंको देखता है और विपुलमति ऋजुमतिकी अपेक्षा कुछ अधिक पर्यायोंको देखता है।

केवलज्ञानमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। सम्पूर्ण द्रव्य और उनके सम्पूर्ण पर्यायोंको केवलज्ञानी एक ही समयमें जान लेता है। अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमानका कोई भी परिवर्तन उससे छिपा नहीं रहता। उसे निरावरण ज्ञान और क्षायिक ज्ञान भी कहते हैं। मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान पंचमहाव्रतीका होते है, अन्यको नहीं। माता मरुदेवीको केवलज्ञान हुआ। उससे पहले वह भावसे सर्वविरता थी।

इस तरह मतिज्ञानके २८, श्रुतज्ञानके १४ अथवा २०,

अवधिज्ञानके ६, मनःपर्यायके २, तथा केवलज्ञानका १, इन सब भेदोंको मिलानेसे, पांचों ज्ञानोंके ५१ अथवा ५७ भेद होते हैं।

अब उनके आवरणोंको कहते हैं:—

एसिं जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं।
दंसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दंसणावरणं ॥ ९ ॥

(चक्खुस्स) आंखके (पडुव्व) पट—पट्टीके समान, (एसिं) इन मति आदि पांच ज्ञानोंका (जं) जो (आवरणं) आवरण है, (तं) वह (तयावरणं) उनका आवरण कहा जाता है अर्थात् मति ज्ञानका आवरण, मतिज्ञानावरण; श्रुतज्ञानका आवरण, श्रुतज्ञानावरण, इस प्रकार दूसरे आवरणोंको भी समझना चाहिये। (दंसणावरणं) दर्शनावरण कर्म, (वित्तिसमं) वेत्री—दरबानके सदृश है। उसके नव भेद हैं, सो इस प्रकार—(दंसणचउ) दर्शनावरण-चतुष्क और (पणनिद्दा) पाँच निद्राएँ ॥ ९ ॥

भावार्थ—ज्ञानके आवरण करने वाले कर्मको ज्ञानावरण अथवा ज्ञानावरणीय कहते हैं। जिस प्रकार आँखपर कपड़ेकी पट्टी लपेटनेसे वस्तुओंके देखनेमें रुकावट होती है; उसी प्रकार ज्ञानावरणके प्रभावसे आत्माको, पदार्थोंके जाननेमें रुकावट पहुँचती है। परन्तु ऐसी रुकावट नहीं होती कि जिससे आत्माको किसी प्रकारका ज्ञान ही न हो। चाहे जैसे घने बादलोंसे सूर्य घिर जाय तो भी उसका कुछ न कुछ प्रकाश, जिससे कि रात दिनका भेद समझा जा सकता है; जरूर बना रहता है। इसी प्रकार कर्मोंके चाहे जैसे गाढ़ आवरण क्यों न हों, आत्माको कुछ न कुछ ज्ञान होता ही रहता है। आँखकी पट्टीका जो दृष्टान्त दिया गया है उसका अभिप्राय यह है कि, पतले कपड़ेकी पट्टी होगी तो कुछ ही कम दिखेगा; गाढ़े कपड़ेकी पट्टी होगी तो बहुत

कम दिखेगा; इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म्मोंकी आच्छादन करनेकी शक्ति जुदी २ होती है।

१—भिन्न-भिन्न प्रकारके मति ज्ञानोंके आवरण करने वाले भिन्न-भिन्न कर्मोंको मतिज्ञानावरणीय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि, पहले मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद कहे गये, और दूसरी अपेक्षासे तीन सौ चालीस भेद भी कहे गये। उन सबोंके आवरण करने वाले कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं, उनका "मतिज्ञानावरण" इस एक शब्दसे ग्रहण होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।

२—श्रुत ज्ञानके चौदह अथवा बीस भेद कहे गये हैं, उनके आवरण करने वाले कर्मोंको श्रुत ज्ञानवरणीय कहते हैं।

३—पूर्वोक्त भिन्न-भिन्न प्रकारके अवधिज्ञानोंके आवरण करने वाले कर्मोंको अवधिज्ञानावरणीय कहते हैं।

४—मनःपर्यायज्ञानके आवरण करने वाले कर्मोंको मनःपर्याय-ज्ञानावरणीय कहते हैं।

५—केवलज्ञानके आवरण करने वाले कर्मोंको केवलज्ञाना-वरणीय कहते हैं। इन पाँचों ज्ञानावरणोंमें केवलज्ञानावरण कर्म सर्वघाती है, और दूसरे चार देशघाती। दर्शनावरणीय कर्म, द्वारपालके समान है। जिस प्रकार द्वारपाल, जिस पुरुषसे वह नाराज है, उसको राजाके पास जाने नहीं देता, चाहे राजा उसे देखना भी चाहे। उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म, जीव रूपी राजाको पदार्थोंके देखनेकी शक्तिमें रुकावट पहुँचाता है। दर्शनावरणीयचतुष्क और पाँच निद्राओंको मिलाकर दर्शना-वरणीयके नव भेद होते हैं, सो आगे दिखलावेंगे।

दर्शनावरणीयचतुष्कः—

चक्खुदिट्ठिअचक्खुसेसिंदियओहिकेवलेहिं च।
दंसणमिह सामन्नं तस्सावरणं तयं चउहा ॥१०॥

(चक्खुदिट्ठि चक्षुका अर्थ है दृष्टि अर्थात् आंख, (अचक्खु सेसिंदिय) अचक्षुका अर्थ है शेष इन्द्रियाँ अर्थात् आंखको छोड़ कर अन्य चार इन्द्रियाँ, (ओहि) अवधि और (केवलेहिं) केवल इनसे (दंसण) दर्शन होता है जिसे कि (इह) इस शास्त्रमें (सामन्नं) सामान्य उपयोग कहते हैं। (तस्सावरणं) उसका आवरण, (तयं चउहा) उन दर्शनोंके चार नामोंके भेदसे चार प्रकारका है। (च) "केवलेहिं च" इस "च" शब्दसे, शेष इन्द्रियोंके साथ मनके ग्रहण करनेकी सूचना दी गई है।

भावार्थ—दर्शनावरण-चतुष्कका अर्थ है दर्शनावरणके चार भेद; वे ये हैं:—१ चक्षुर्दर्शनावरण, २ अचक्षुर्दर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण और ४ केवलदर्शनावरण।

१—आंखके द्वारा जो पदार्थोंके सामान्य धर्मका ग्रहण होता है, उसे चक्षुर्दर्शन कहते हैं। उस सामान्य ग्रहणको रोकने वाला कर्म, चक्षुर्दर्शनावरण है।

२—आँखको छोड़कर त्वचा, जीभ, नाक, कान और मनसे जो पदार्थोंके सामान्य धर्मका प्रतिभास होता है, उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं। उसका आवरण, अचक्षुर्दर्शनावरण है।

३—इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना ही आत्माको रूपिद्रव्यके सामान्यधर्मका जो बोध होता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं। उसका आवरण अवधिदर्शनावरण है।

४—संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका जो सामान्य अवबोध होता है उसे केवलदर्शन कहते हैं। उसका आवरण केवलदर्शनावरण कहा जाता है।

विशेष—चक्षुर्दर्शनावरण कर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवोंको जन्मसे ही आंखें नहीं होती। चतुरिन्द्रिय

और पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी आंखें उक्त कर्मके उदयसे नष्ट हो जाती हैं अथवा रतौंधी आदिके हो जानेसे उनसे कम दीख पड़ता, है। इसी प्रकार, शेष इन्द्रियों और मनवाले जीवोंके विषयमें भी उन इन्द्रियोंका और मनका जन्मसे ही न होना अथवा जन्मसे होनेपर भी कमजोर, अस्पष्ट होना, पहिलेके समान समझना चाहिये। जिस प्रकार अवधिदर्शन माना गया है, उसी प्रकार मनःपर्यायदर्शन क्यों नहीं माना गया, ऐसा सन्देह करना इसलिये ठीक नहीं है कि मनःपर्यायज्ञान, क्षयोपशमके प्रभावसे विशेष धर्मोंको ही ग्रहण करते हुये उत्पन्न होता है, सामान्य-को नहीं।

पाँच निद्राओंके वर्णनमें आदिकी चार निद्राएं:—

सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा।
पयला ठिओवविट्ठस्स पयलपयला य चंकमओ ॥११॥

( सुहपडिबोहा ) जिसमें बिना परिश्रमके प्रतिबोध हो, वह ( निद्दा ) निद्रा; ( य ) और ( दुक्खपडिबोहा ) जिसमें कष्टसे प्रतिबोध हो, वह ( निद्दानिद्दा ) निद्रानिद्रा; ( ठिओवविट्ठस्स ) स्थित और उपविष्टको ( पयला ) प्रचला होती है; ( चंकमओ ) चलने-फिरनेवालेको ( पयलपयला ) प्रचलाप्रचला होती है।

भावार्थ—दर्शनावरणीय कर्मके नव भेदोंमेंसे चार भेद पहले कह चुके हैं। अब पांच भेदोंको कहते हैं:—१ निद्रा, २ निद्रानिद्रा, ३ प्रचला, ४ प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि।

१—जो सोया हुआ जीव, थोड़ीसी आवाजसे जागता है, अर्थात् उसे जगानेमें मेहनत नहीं पड़ती, उसकी नींदको निद्रा कहते हैं, और जिस कर्मके उदयसे ऐसी नींद आती है, उस कर्मका भी नाम 'निद्रा' है।

२—जो सोया हुआ जीव, बड़े ज़ोरसे चिल्लाने या हाथसे ज़ोरसे हिलानेपर बड़ी मुश्किलसे जागता है, उसकी नींदको निद्रानिद्रा कहते हैं; जिस कर्मके उदयसे ऐसी नींद आवे, उस कर्मका भी नाम 'निद्रानिद्रा' है।

३—खड़े-खड़े या बैठे-बैठे जिसको नींद आती है, उसकी नींदको प्रचला कहते हैं; जिस कर्मके उदयसे ऐसी नींद आवे, उस कर्मका भी नाम 'प्रचला' है।

४—चलते फिरते जिसको नींद आती है, उसकी नींदको प्रचलाप्रचला कहते हैं, जिस कर्मके उदयसे ऐसी नींद आवे, उस कर्मका भी नाम 'प्रचलाप्रचला' है।

स्त्यानर्द्धिका स्वरूप और वेदनीय कर्मका स्वरूप :—

दिणचिंतियत्थकरणी, थीणद्धी अद्धचक्किअद्धबला।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥१२॥

(दिणचिंतियत्थकरणी) दिनमें सोचे हुए कामको करने वाली निद्राको (थीणद्धी) स्त्यानर्द्धि कहते हैं, इस निद्रामें जीव को (अद्धचक्किअद्धबला) अर्द्धचक्री अर्थात् वासुदेव, उसका आधा बल होता है। (वेयणियं) वेदनीय कर्म, (महुलित्तखग्ग धारालिहणं व) मधुसे लिप्त, खड्गकी धाराको चाटनेके समान है, और यह कर्म (दुहा उ) दो ही प्रकारका है ॥ १२ ॥

भावार्थ—स्त्यानर्द्धिका दूसरा नाम स्त्यानगृद्धि भी है, जिसमें आत्माकी शक्ति, पिण्डित अर्थात् इकट्ठी होती है उसे स्त्यानर्द्धि कहते हैं।

५—जो जीव, दिनमें अथवा रातमें सोचे हुये कामको नींद की हालतमें कर डालता है, उसकी नींदको स्त्यानगृद्धि कहते हैं,

जिस कर्मके उदयसे ऐसी नींद आती है, उस कर्मका भी नाम स्त्यानगृद्धि है।

वज्रऋषभनाराच संहनन वाले जीवको जब इस स्त्यानर्द्धि कर्मका उदय होता है, तब उसे वासुदेवका आधा बल हो जाता है। यह जीव, मरनेपर अवश्य नरक जाता है।

तीसरा कर्म वेदनीय है। इसे वेद्य कर्म भी कहते हैं। इसका स्वभाव, तलवारकी शहद लगी हुई धाराको चाटनेके समान है। वेदनीय कर्मके दो भेद हैं:—१ सातवेदनीय और २ असातवेद-नीय। तलवारकी धारमें लगे हुये शहदको चाटनेके समान सात-वेदनीय है और खड्ग धारासे जीभके कटनेके समान असात-वेदनीय है।

१—जिस कर्मके उदयसे आत्माको विषय सम्बन्धी सुखका अनुभव होता है, वह सातवेदनीय कर्म है।

२—जिस कर्मके उदयसे, आत्माको अनुकूल विषयोंकी अप्राप्तिसे अथवा प्रतिकूल विषयोंकी प्राप्तिसे दुःखका अनुभव होता है, वह असातवेदनीय कर्म है।

आत्माको जो अपने स्वरूपके सुखका अनुभव होता है। वह किसी भी कर्मके उदयसे नहीं। मधुलिप्त खड्गधाराका दृष्टान्त देकर यह सूचित किया गया है कि वैषयिक सुख अर्थात् पौद्ग-लिक सुख, दुःखसे मिला हुआ ही है।

चार गतियोंमें सात असातका स्वरूप तथा मोहनीय कर्म:—

ओसन्नं सुरमणुए सायमसायं तु तिरियनरएसु।
मज्जं व मोहणीयं दुविहं दंसणचरणमोहा ॥१३॥

(ओसन्नं) प्रायः (सुरमणुए) देवों और मनुष्योंमें (सायं) सात वेदनीय कर्मका उदय होता है। (तिरियनरएसु)

तिर्यंचों और नारकोंमें (तु) तो प्रायः (असायं) असातवेद-नीय कर्मका उदय होता है। (मोहणीय) मोहनीय कर्म, (मज्जं व) मद्यके सदृश है; और वह (दंसणचरणमोहा) दर्शनमोह-नीय तथा चारित्रमोहनीयको लेकर (दुविह) दो प्रकार है।

भावार्थ—देवों और मनुष्योंको प्रायः सातवेदनीयका उदय रहता है। 'प्रायः' शब्दसे यह सूचित किया जाता है कि उनको असातवेदनीयका भी उदय हुआ करता है, परन्तु कम देवोंको अपनी देवगतिसे च्युत होनेके समय; अपनी ऋद्धिकी अपेक्षा दूसरे देवोंकी विशाल ऋद्धिको देखनेसे जब ईर्ष्याका प्रादुर्भाव होता है तब; तथा और-और समयोंमें भी असातवेद-नीयका उदय हुआ करता है। इसी प्रकार मनुष्योंको गर्भवास, स्त्री-पुत्र वियोग, शीत उष्ण आदिसे दुःख हुआ करता है।

तिर्यञ्च जीवों तथा नारक जीवोंको प्रायः असातवेदनीयका उदय हुआ करता है। प्रायः शब्दसे सूचित किया गया है कि उनको सातवेदनीयका भी उदय हुआ करता है, परन्तु कम। तिर्यञ्चोंमें कई हाथी घोड़े कुत्ते आदि जीवोंका आदरके साथ पालन पोषण किया जाता है। इसी प्रकार नारक जीवोंको भी तीर्थङ्करोंके जन्म आदि कल्याणकोंके समय सुखका अनुभव हुआ करता है।

सांसारिक सुखका देवोंको विशेष अनुभव होता है और मनुष्योंको उनसे कम। दुःखका विशेष अनुभव, नारक तथा निगोदके जीवोंको होता है इनकी अपेक्षा तिर्यञ्चोंको कम।

चौथा कर्म मोहनीय है। उसका स्वभाव मद्यके समान है। जिस प्रकार मद्यके नशेसे मनुष्य अपने हित अहितको पहिचान नहीं सकता, उसी प्रकार मोहनीय कर्मके उदयसे

आत्माको अपने हित अहितके पहिचाननेकी बुद्धि नहीं होती। कदाचित् अपने हित अहितकी परीक्षा कर सके तो भी वह जीव, मोहनीय कर्मके प्रभावसे तदनुसार आचरण नहीं कर सकता। मोहनीयके दो भेद हैं:—१ दर्शनमोहनीय और २ चारित्र-मोहनीय।

१—जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना, यह दर्शन है अर्थात् तत्त्वार्थ-श्रद्धाको दर्शन कहते हैं। यह आत्माका गुण है; इसके घात करने वाले कर्मको दर्शनमोहनीय कहते हैं। सामान्य उपयोग रूप दर्शन, इस दर्शनसे जुदा है।

२—जिसके द्वारा आत्मा अपने असली स्वरूपको पाता है, उसे चारित्र कहते हैं। यह भी आत्माका गुण है; इसके घात करने वाले कर्मको चारित्रमोहनीय कहते हैं।

दर्शनमोहनीयके तीन भेद :—

दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥ १४ ॥

( दंसणमोहं ) दर्शनमोहनीय कर्म, ( तिविहं ) तीन प्रकार का है; ( सम्मं ) १ सम्यक्त्वमोहनीय, ( मीसं ) २ मिश्रमोहनीय (तहेव) उसी प्रकार (मिच्छत्तं) ३ मिथ्यात्वमोहनीय। (तं) वह तीन प्रकारका कर्म, ( कमसो ) क्रमशः ( सुद्धं ) सुद्ध, ( अद्ध-विसुद्धं ) अर्द्धविशुद्ध और ( अविसुद्धं ) अविशुद्ध ( हवइ ) होता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं:—१ सम्यक्त्व-मोहनीय, २ मिश्रमोहनीय और ३ मिथ्यात्वमोहनीय। सम्यक्त्व-मोहनीयके दलिक शुद्ध हैं; मिश्रमोहनीयके अर्धविशुद्ध और मिथ्यात्वमोहनीयके अशुद्ध।

(१) कोदो (कोद्रव) एक प्रकारका अन्न है, जिसके खाने से नशा होता है। परन्तु उस अन्नका भूसा निकाला जाय और छाछ आदिसे शोधा जाय तो वह नशा नहीं करता। इसी प्रकार जीवको, हित-अहितकी परीक्षामें विफल करनेवाले मिथ्यात्वमोहनीयके पुद्गल हैं। उनमें सर्वघाती रस होता है। द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस, सर्वघाती हैं। जीव अपने विशुद्ध परिणामके बलसे उन पुद्गलोंके सर्वघाती रसको अर्थात् शक्तिको घटा देता है, सिर्फ एकस्थानक रस बच जाता है। इन एकस्थानक रस वाले मिथ्यात्वमोहनीयके पुद्गलोंको ही सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। यह कर्म शुद्ध होनेके कारण, तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्वमें बाधा नहीं पहुचाता, परन्तु इसके उदयसे आत्म स्वभाव रूप औपशमिकसम्यक्त्व तथा क्षायिकसम्यक्त्व होने नहीं पाता और सूक्ष्म पदार्थोंके विचारनेमें शंकायें हुआ करती हैं जिससे कि सम्यक्त्वमें मलिनता आजाती है। इसी दोषके कारण यह कर्म सम्यक्त्वमोहनीय कहलाता है।

(२) कुछ भाग शुद्ध, और कुछ भाग अशुद्ध ऐसे कोदोंके समान मिश्रमोहनीय है। इस कर्मके उदयसे जीवको तत्त्वरुचि नहीं होने पाती और अतत्त्वरुचि भी नहीं होती। मिश्रमोहनीय का दूसरा नाम सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय है। इन कर्मपुद्गलोंमें द्विस्थानकरस होता है।

(३) सर्वथा अशुद्ध कोदोंके समान मिथ्यात्वमोहनीय है। इस कर्मके उदयसे जीवको हितमें अहितबुद्धि और अहितमें हितबुद्धि होती है अर्थात् हितको अहित समझता है और अहित को हित। इन कर्म पुद्गलोंमें चतुःस्थानक, त्रिस्थानक, और द्विस्थानक रस होता है। १/४ को चतुःस्थानक, १/३ को त्रिस्थानक और १/२ को द्विस्थानक रस कहते हैं। जो रस

सहज है अर्थात् स्वाभाविक है, उसे एक स्थानक कहते हैं। जैसे:—नींबका अथवा ईखका एक सेर रस लिया; इसे एक स्थानक रस कहेंगे; नींबके इस स्वाभाविक रस को कटु, और ईखके रसको मधुर कहना चाहिये। उक्त एक सेर रसको आगके द्वारा काढ़ाकर आधा जला दिया। बचे हुए आधे रसको द्विस्थानक रस कहते हैं; यह रस, स्वाभाविक कटु और मधु रसकी अपेक्षा, कटुकतर और मधुरतर कहा जायगा। एक सेर रसके दो हिस्से जला दिये जाँय तो बचे हुए एक हिस्से को त्रिस्थानक रस कहते हैं; यह रस नींबका हुआ तो कटुकतम और ईखका हुआ तो मधुरतम कहलावेगा। एक सेर रसके तीन हिस्से जला दिये जाँय तो बचे हुए पाव भरको चतुःस्थानक कहते हैं, यह रस नींबका हुआ तो अतिकटुकतम और ईखका हुआ तो अतिमधुरतम कहा जायगा। इस प्रकार शुभ अशुभ फल देनेकी कर्मकी तीव्रतम शक्तिको चतुःस्थानक, तीव्रतर शक्ति को त्रिस्थानक, तीव्र शक्तिको द्विस्थानक और मन्दशक्तिको एक-स्थानक रस समझना चाहिये।

सम्यक्त्वमोहनीयका स्वरूप :—

जियअजियपुण्णपावासवसंवरबंधमुक्खनिज्जरणा
जेणं सद्दहइ तयं सम्मं खइगाइबहुभेयं ॥ १५ ॥

(जेणं) जिस कर्मसे (जियअजियपुण्णपावासवसंवरबंधमुक्खनिज्जरणा) जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, मोक्ष और निर्जरा इन नव तत्त्वोंपर जीव (सद्दहइ) श्रद्धा करता है, (तयं) वह (सम्मं) सम्यक्त्वमोहनीय है। उसके (खइगाय बहुभेयं) क्षायिक आदि बहुत-से भेद हैं॥ १५॥

भावार्थ—जिस कर्मके बलसे जीवको जीवादि नव तत्त्वों पर श्रद्धा होती है, उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं। जिस प्रकार

चश्मा, आँखोंका आच्छादक होनेपर भी देखनेमें रुकावट नहीं पहुँचाता, उसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय कर्म, आवरण स्वरूप होनेपर भी शुद्ध होनेके कारण, जीवकी तत्त्वार्थ श्रद्धाका प्रतिघात नहीं करता; इसी अभिप्रायसे ऊपर कहा गया है कि 'इसी कर्म से जीवको नव तत्त्वोंपर श्रद्धा होती है।'

सम्यक्त्वके कई भेद हैं। किसी अपेक्षासे सम्यक्त्व दो प्रकारका है:—१ व्यवहारसम्यक्त्व और २ निश्चयसम्यक्त्व। कुगुरु, कुदेव और कुमार्गको त्यागकर सुगुरु, सुदेव और सुमार्ग का स्वीकार करना, व्यवहार सम्यक्त्व है। आत्माका वह परिणाम, जिसके कि होनेसे ज्ञान विशुद्ध होता है, निश्चय-सम्यक्त्व है।

१—मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय, इन तीन प्रकृतियोंके क्षय होनेपर आत्मामें जो परिणाम विशेष होता है, उसे क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं।

२—दर्शनमोहनीयकी ऊपर कही हुई तीन प्रकृतियोंके उपशम से, आत्मामें जो परिणाम होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व ग्यारहवें गुणस्थानमें वर्तमान जीवको होता है। अथवा, जिस जीवने अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समय में मिथ्यात्वमोहनीयके तीन पुञ्ज किये हैं, और मिथ्यात्व पुञ्ज का क्षय नहीं किया है, उस जीवको यह औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

३—मिथ्यात्वमोहनीय कर्मके क्षय तथा उपशमसे, और सम्यक्त्व मोहनीय कर्मके उदयसे, आत्मामें जो परिणाम होता है, उसे क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। उदयमें आये हुए मिथ्यात्वके पुद्गलोंका क्षय तथा जिनका उदय नहीं प्राप्त हुआ है उन पुद्गलोंका उपशम, इस तरह मिथ्यात्व मोहनीयका क्षयो-

पशम होता है। यहाँपर जो यह कहा गया है कि मिथ्यात्वका उदय होता है, वह प्रदेशोदय समझना चाहिए, न कि रसोदय। औपशमिक सम्यक्त्वमे मिथ्यात्वका रसोदय और प्रदेशोदय—दोनों प्रकारका उदय नहीं होता। प्रदेशोदयको ही उदयाभावी क्षय कहते हैं। जिसके उदयसे आत्मापर कुछ असर नहीं होता वह प्रदेशोदय है। तथा जिसका उदय आत्मा पर असर जमाता है, वह रसोदय है।

४—क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें वर्तमान जीव, जब सम्यक्त्व मोहनीयके अन्तिम पुद्गलके रसका अनुभव करता है, उस समयके उसके परिणामको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। वेदक सम्यक्त्व के बाद, उसे क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है।

५—उपशमसम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वके अभिमुख हुआ जीव, जब तक मिथ्यात्वको नहीं प्राप्त करता, तब तकके उसके परिणाम विशेषको सास्वादन अथवा सासादन सम्यक्त्व कहते हैं।

इसी प्रकार जिनोक्त क्रियाओंको—देववंदन, गुरुवंदन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदिको करना 'कारक सम्यक्त्व'; उनमें रुचि रखनेको 'रोचक सम्यक्त्व' और उनसे होने वाले लाभोंका सभाओंमें समर्थन करना 'दीपक सम्यक्त्व' इत्यादि सम्यक्त्वके कई भेद हैं।

अब नव तत्त्वोंका संक्षेपसे स्वरूप कहते हैं :—

१—जो प्राणोंको धारण करे, वह जीव है। प्राणके दो भेद हैं :—द्रव्यप्राण और भावप्राण। पांच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये दस, द्रव्य प्राण हैं। ज्ञान दर्शन आदि स्वभाविक गुणोंको भावप्राण कहते हैं। मुक्त जीवोंमें भावप्राण होते हैं। संसारी जीवोंमें द्रव्यप्राण और भावप्राण दोनों होते हैं। जीव तत्त्वके चौदह भेद हैं।

२—जिसमें प्राण न हो अर्थात् जड़ हो, वह अजीव है। पुद्गल, धर्मास्तिकाय, आकाश आदि अजीव हैं। अजीव तत्त्व के भी चौदह भेद हैं।

३—जिस कर्मके उदयसे जीवको सुखका अनुभव होता है, वह द्रव्यपुण्य; और जीवके शुभ परिणाम दान, दया आदि भावपुण्य हैं। पुण्य तत्त्वके बयालीस भेद हैं।

४—जिस कर्मके उदयसे जीव दुःखका अनुभव करता है, वह द्रव्यपाप और जीवका अशुभ परिणाम भावपाप है। पाप तत्त्वके बयासी भेद हैं।

५—कर्मोंके आनेका द्वार, जो जीवके शुभ अशुभ परिणाम हैं, वह भावास्रव और शुभ अशुभ परिणामोंको उत्पन्न करनेवाली अथवा शुभ अशुभ परिणामोंसे स्वयं उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्तियों को द्रव्यास्रव कहते हैं। आस्रव तत्त्वके बयालीस भेद हैं।

६—आते हुए नये कर्मोंको रोकनेवाला आत्माका परिणाम, भाव संवर, और कर्म पुद्गलकी रुकावटको द्रव्य संवर कहते हैं। संवर तत्त्वके सत्तावन भेद हैं।

७—कर्म पुद्गलोंका जीव प्रदेशोंके साथ दूध-पानीकी तरह आपसमें मिलना, द्रव्यबन्ध और द्रव्यबन्धको उत्पन्न करनेवाले अथवा द्रव्यबन्धसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके परिणाम भाव-बन्ध हैं। बन्धके चार भेद हैं।

८—सम्पूर्ण कर्म पुद्गलोंका आत्मप्रदेशोंसे जुदा हो जाना द्रव्यमोक्ष और द्रव्यमोक्षके जनक अथवा द्रव्यमोक्ष-जन्य आत्माके विशुद्ध परिणाम भावमोक्ष है। मोक्षके नव भेद हैं।

९—कर्मोंका एक देश आत्म-प्रदेशोंसे जुदा होना है, वह द्रव्यनिर्जरा और द्रव्यनिर्जराके जनक अथवा द्रव्यनिर्जरा-जन्य आत्माके शुद्ध परिणाम, भाव निर्जरा है। निर्जराके बारह भेद हैं।

मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीयका स्वरूप :—

मीसा न रागदोसो जिणधम्मे अंतमुहू जहा अन्ने ।
नालियरदीवमणुणो मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ॥ १६ ॥

(जहा) जिस प्रकार (नालियरदीवमणुणो) नालिकेर द्वीपके मनुष्यको (अन्ने) अन्नमें (रागदोसा) राग और द्वेष (न) नहीं होता, उसी प्रकार (मीसा) मिश्रमोहनीय कर्मके उदयसे जीवको (जिणधम्मे) जैन धर्ममें राग द्वेष नहीं होता। इस कर्मका उदय-काल (अंतमुहु) अन्तमुहूर्तका है। (मिच्छं) मिथ्यात्वमोहनीय कर्म (जिणधम्मविवरीयं) जैन धर्म से विपरीत है ॥ १६ ॥

भावार्थ —जिस द्वीपमें खानेके लिये सिर्फ नारियल ही होते हैं, उसे नालिकेर द्वीप कहते हैं। वहाँके मनुष्योंने न अन्नको देखा है, न उसके विषयमें कुछ सुना ही है, अतएव उनको अन्नमें रुचि नहीं होती, और न द्वेष ही होता है। इसी प्रकार जब मिश्रमोहनीय कर्मका उदय रहता है तब जीवको जैन धर्ममें प्रीति नहीं होती और अप्रीति भी नहीं होती अर्थात् श्रीवीतरागने जो धर्म कहा है, वही सत्य है, इस प्रकार एकान्त श्रद्धा रूप प्रेम नहीं होता, और वह धर्म झूठा है, अविश्वसनीय है, इस प्रकार अरुचि रूप द्वेष भी नहीं होता। मिश्रमोहनीयका उदयकाल अन्तमुहूर्तका है।

जिस प्रकार रोगीको पथ्य चीजें अच्छी नहीं लगतीं और कुपथ्य चीजें अच्छी लगती हैं; उसी प्रकार मिथ्यात्वमोहनीय कर्मका जब उदय होता है तब जीवको जैनधर्मपर द्वेष तथा उससे विरुद्ध धर्ममें राग होता है। मिथ्यात्वके १० भेद ये हैं:—

१—जिनको कांचन और कामिनी नहीं लुभ ़कती, जिनको सांसारिक लोगोंकी तारीफ खुश नहीं करती, ऐसे साधुओंको साधु न समझना।

२—जो कांचन और कामिनीके दास बने हुए हैं, जिनको सांसारिक लोगोंमें प्रशंसा पानेकी दिन-रात इच्छा बनी रहती है, ऐसे साधु-वेशधारियोंको साधु समझना और मानना।

३—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, ये धर्मके दस भेद हैं। इनको अधर्म समझना।

४—जिन कृत्योंसे या विचारोंसे आत्माकी अधोगति होती है, वह अधर्म है। जैसे कि, हिंसा करना, शराब पीना, जुआ खेलना, दूसरोंकी बुराई सोचना इत्यादि, इनको धर्म समझना।

५—शरीर, इन्द्रिय, मन, ये जड़ हैं। इनको आत्मा समझना अर्थात् अजीवको जीव मानना।

६—जीवको अजीव मानना। जैसे कि, गाय, बैल, बकरी, मुर्गी आदि प्राणियोंमें आत्मा नहीं है; अतएव इनके मारनेमें कोई दोष नहीं है, ऐसा समझना।

७—उन्मार्गको सुमार्ग समझना। अर्थात् जो पुरानी या नई कुरीतियाँ हैं, जिनसे सचमुच हानि ही होती है, वह उन्मार्ग है। उसको सुमार्ग समझना।

८—सुमार्गको उन्मार्ग समझना। अर्थात् जिन पुराने या नये रिवाजोंसे धर्मकी वृद्धि होती है, वह सुमार्ग है। उसको कुमार्ग समझना।

९—कर्म रहितको कर्म सहित मानना। राग और द्वेष, कर्मके सम्बन्धसे होते हैं। परमेश्वरमें रागद्वेष नहीं है तथापि यह समझना कि भगवान् अपने भक्तोंकी रक्षाके लिए दैत्योंका नाश करते हैं; अमुक स्त्रियोंकी तपस्यासे प्रसन्न हो उनके पति बनते हैं आदि।

१०—कर्म सहितको कर्म रहित मानना। भक्तोंकी रक्षा और शत्रुओंका नाश करना, राग द्वेषके बिना हो नहीं सकता।

और राग द्वेष, कर्म सम्बन्धके बिना हो नहीं सकते। तथापि उन्हें कर्म रहित मानना, यह कहना कि, भगवान् सब कुछ करते हैं तथापि अलिप्त हैं।

चारित्रमोहनीयकी उत्तरप्रकृतियाँ :—

सोलह कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणियं।
अण अप्पचक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥१७॥

( चरित्त मोहणियं ) चारित्रमोहनीय कर्म, ( दुविहं ) दो प्रकारका है :—( सोलस कसाय ) सोलह कषाय और ( नवनोकसाय ) नव नोकषाय (अण) अनन्तानुबन्धी, (अप्पचक्खाणा) अप्रत्याख्यानावरण ( पच्चक्खाणा ) प्रत्याख्यानावरण (य) और ( संजलणा ) सञ्ज्वलन, इनके चार-चार भेद होनेसे सब कषायोंकी संख्या, सोलह होती है ॥ १७ ॥

भावार्थ—चारित्र मोहनीयके दो भेद हैं। कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। कषाय मोहनीयके सोलह भेद हैं, और नोकषाय मोहनीयके नव। इस गाथामें कषाय मोहनीयके भेद कहे गये हैं, नोकषाय मोहनीयका वर्णन आगे आवेगा।

कषाय—कषका अर्थ है जन्म मरण रूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो, उसे कषाय कहते हैं।

नोकषाय—कषायोंके उदयके साथ जिनका उदय होता है, वे, नोकषाय, अथवा कषायोंको उभाड़ने वाले—उत्तेजित करने वाले हास्य आदि नवको नोकषाय कहते हैं। इस विषयका एक श्लोक इस प्रकार है :—

'कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥'

२—जो कांचन और कामिनीके दास बने हुए हैं, जिनको सांसारिक लोगोंसे प्रशंसा पानेकी दिन-रात इच्छा बनी रहती है, ऐसे साधु-वेशधारियोंको साधु समझना और मानना।

३—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिचन्य और ब्रह्मचर्य, ये धर्मके दस भेद हैं। इनको अधर्म समझना।

४—जिन कृत्योंसे या विचारोंसे आत्माकी अधोगति होती है, वह अधर्म है। जैसे कि, हिंसा करना, शराब पीना, जुआ खेलना, दूसरोंकी बुराई सोचना इत्यादि, इनको धर्म समझना।

५—शरीर, इन्द्रिय, मन, ये जड़ हैं। इनको आत्मा समझना अर्थात् अजीवको जीव मानना।

६—जीवको अजीव मानना। जैसे कि गाय, बैल, बकरी, मुर्गी आदि प्राणियोंमें आत्मा नहीं है; अतएव इनके खानेमें कोई दोष नहीं है, ऐसा समझना।

७—उन्मार्गको सुमार्ग समझना। अर्थात् जो पुरानी या नई कुरीतियाँ हैं, जिनसे सचमुच हानि ही होती है, वह उन्मार्ग है। उसको सुमार्ग समझना।

८—सुमार्गको उन्मार्ग समझना। अर्थात् जिन पुराने या नये रिवाजोंसे धर्मकी वृद्धि होती है, वह सुमार्ग है। उसको कुमार्ग समझना।

९—कर्म रहितको कर्म सहित मानना। राग और द्वेष, कर्मके सम्बन्धसे होते हैं। परमेश्वरमें रागद्वेष नहीं है तथापि यह समझना कि भगवान् अपने भक्तोंकी रक्षाके लिए दैत्योंका नाश करते हैं; अमुक स्त्रियोंकी तपस्यासे प्रसन्न हो उनके पति बनते हैं आदि।

१०—कर्म सहितको कर्म रहित मानना। भक्तोंकी रक्षा और शत्रुओंका नाश करना, राग द्वेषके सिवा हो नहीं सकता।

और राग द्वेष, कर्म सम्बन्धके बिना हो नहीं सकते। तथापि उन्हें कर्म रहित मानना, यह कहना कि, भगवान् सब कुछ करते हैं तथापि अलिप्त हैं।

चारित्रमोहनीयकी उत्तरप्रकृतियाँ:—

सोलह कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणिय।
अण अप्पचक्खाणा पचक्खाणा य संजलणा ॥१७॥

( चरित्त मोहणियं ) चारित्रमोहनीय कर्म, ( दुविहं ) दो प्रकारका है :—( सोलस कसाय ) सोलह कषाय और ( नवनोकसाय ) नव नोकषाय (अण) अनन्तानुबन्धी, (अप्पचक्खाणा) अप्रत्याख्यानावरण ( पचक्खाणा ) प्रत्याख्यानावरण (य) और ( संजलणा ) सञ्ज्वलन, इनके चार-चार भेद होनेसे सब कषायोंकी संख्या, सोलह होती है॥ १७॥

भावार्थ—चारित्र मोहनीयके दो भेद हैं। कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। कषाय मोहनीयके सोलह भेद हैं, और नोकषाय मोहनीयके नव। इस गाथामें कषाय मोहनीयके भेद कहे गये हैं, नोकषाय मोहनीयका वर्णन आगे आयेगा।

कषाय—कषका अर्थ है जन्म मरण रूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो, उसे कषाय कहते हैं।

नोकषाय—कषायोंके उदयके साथ जिनका उदय होता है, वे, नोकषाय, अथवा कषायोंको उभाड़ने वाले—उत्तेजित करने वाले हास्य आदि नवको नोकषाय कहते हैं। इस विषयका एक श्लोक इस प्रकार है :—

'कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता॥'

क्रोधके साथ हास्यका उदय रहता है, कभी हास्य आदि क्रोध को उभारते हैं। इसी प्रकार अन्य कषायोंके साथ नोकषायका सम्बन्ध समझना चाहिये। कषायोंके साहचर्यसे ही नोकषायों में प्रधानता है, केवल नोकषायोंमें प्रधानता नहीं है।

१—जिस कषायके प्रभावसे जीव अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करता है उस कषायको अनन्तानुबन्धी कहते हैं। इस कषायके चार भेद हैं। १ अनन्तानुबन्धी क्रोध, २ अनन्तानुबन्धी मान, ३ अनन्तानुबन्धी माया और ४ अनन्तानुबन्धी लोभ। अनन्तानुबन्धी कषाय, सम्यक्त्वका घात करता है।

२—जिस कषायके उदयसे देशविरति रूप अल्प प्रत्याख्यान नहीं होता, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि इस कषायके उदयसे श्रावक धर्मकी भी प्राप्ति नहीं होती। इस कषायके चार भेद हैं, १ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, २ अप्रत्याख्यानावरण मान, ३ अप्रत्याख्यानावरण माया और ४ अप्रत्याख्यानावरण लोभ।

३—जिस कषायके उदय से सर्वविरति रूप प्रत्याख्यान रुक जाता है अर्थात् साधु धर्मकी प्राप्ति नहीं होती, उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। यह कषाय देश विरति रूप श्रावक धर्ममें बाधा नहीं पहुँचाता। इसके चार भेद हैं:—१ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, २ प्रत्याख्यानावरण मान, ३ प्रत्याख्यानावरण माया, और ४ प्रत्याख्यानावरण लोभ।

४—जो कषाय, परीषह तथा उपसर्गोंके आ जानेपर यतियोंको भी थोड़ासा जलावे अर्थात् उनपर थोड़ा असर जमावे, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। यह कषाय, सर्व विरति रूप साधु धर्ममें बाधा पहुँचाता है अर्थात् उसे होने नहीं

देता। इसके भी चार भेद हैं:—१ सञ्ज्वलन क्रोध, २ सञ्ज्वलन मान, ३ सञ्ज्वलन माया और ४ सञ्ज्वलन लोभ।

मन्दबुद्धियोंको समझानेके लिये ४ प्रकारके कषायोंका स्वरूप:—

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नर अमरा।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा॥ १८॥

उक्त अनन्तानुबन्धी आदि चार कषाय क्रमशः (जाजीव वरिस चउमास पक्खगा) यावत् जीव, वर्ष चतुर्मास और पक्ष तक रहते हैं और वे (नरयतिरियनरअमरा) नरक गति, तिर्यञ्च गति मनुष्य गति तथा देवगतिके कारण हैं, और (सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्त घायकरा) सम्यक्त्व, अणु विरति, सर्व विरति तथा यथाख्यात चारित्रका घात करते हैं।

भावार्थ—(१) अनन्तानुबन्धी कषाय वे हैं, जो जीवन पर्यन्त बने रहें, जिनसे नरक गति योग्य कर्मोंका बन्ध हो और सम्यग्दर्शनका घात होता हो।

(२) अप्रत्याख्यानावरणकषाय, एक वर्ष तक बने रहते हैं, उनके उदयसे तिर्यञ्च गति योग्य कर्मोंका बन्ध होता है और देश विरति रूप चारित्र होने नहीं पाता।

(३) प्रत्याख्यानावरण कषायोंकी स्थिति चार महीनेकी है, उनके उदयसे मनुष्य गति योग्य कर्मोंका बन्ध होता है और सर्व विरतिरूप चारित्र नहीं होने पाता।

(४) सञ्ज्वलन कषाय, एक पक्ष तक रहते हैं, उनके उदयसे देव गति योग्य कर्मोंका बन्ध होता है और यथाख्यातचारित्र नहीं होने पाता।

कषायोंके विषयमें ऊपर जो कहा गया है, वह व्यवहार नय को लेकर; क्योंकि बाहुबलि आदिको सञ्ज्वलन कषाय एक वर्ष

तक था; तथा प्रसन्नचन्द्रराजर्षिको अनन्तानुबन्धी कषायका उदय अन्तर्मुहूर्त तक था। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषायका उदय रहते हुए भी कुछ मिथ्या दृष्टियोंकी नवग्रैवेयकमें उत्पत्ति का वर्णन शास्त्रमें मिलता है।

दृष्टान्तके द्वारा क्रोध और मानका स्वरूपः—

जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो।
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥ १९ ॥

( जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो ) जल राजि, रेणुराजि, पृथिवी राजि और पर्वत राजिके सदृश ( कोहो ) क्रोध ( चउव्विहो ) चार प्रकारका है। ( तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो ) तिनिस-लता, काष्ठ, अस्थि और शैल स्तम्भके सदृश ( माणो ) मान चार प्रकारका है ॥ १९ ॥

भावार्थ—क्रोधके चार भेद पहले कह चुके हैं, उनका हर एकका स्वरूप दृष्टान्तोंके द्वारा समझाते हैं:—

१—पानीमें लकीर खींचनेसे जैसे वह जल्द मिट जाती है, उसी प्रकार, किसी कारणसे उदयमें आया हुआ क्रोध, शीघ्र ही शान्त हो जावे, उसे सञ्ज्वलन क्रोध कहते हैं। ऐसा क्रोध प्रायः साधुओंको होता है।

२—धूलिमें लकीर खींचनेपर, कुछ समयमें हवासे वह लकीर भर जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध, कुछ उपायसे शान्त हो, वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध है।

३—सूखे तालाब आदिमें मिट्टीके फट जानेसे दरार हो जाती है, वर्षा होनेपर वह फिरसे मिल जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध, विशेष परिश्रमसे शान्त होता है, वह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध है।

४—पर्वतके फटनेपर जो दरार होती है उसका मिलना कठिन है, उसी प्रकार जो क्रोध किसी उपायसे शान्त नहीं होता वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

अब दृष्टान्तोंके द्वारा चार प्रकारका मान कहा जाता है:—

१—वेतको बिना मेहनत नमाया जा सकता है, उसी प्रकार, मानका उदय होनेपर जो जीव अपने आग्रहको छोड़ कर शीघ्र नम जाता है, उसके मानको सञ्ज्वलन मान कहते हैं।

२—सूखा काठ तेल वगैरहकी मालिश करनेपर नमता है, उसी प्रकार जिस जीवका अभिमान उपायोंके द्वारा मुश्किलसे दूर किया जाय, उसके मानको प्रत्याख्यानावरण मान कहते हैं।

३—हड्डीको नमानेके लिये बहुतसे उपाय करने पड़ते हैं और बहुत मेहनत उठानी पड़ती है; उसी प्रकार जो मान, बहुतसे उपायोंसे और अति परिश्रमसे दूर किया जा सके, वह अप्रत्याख्यानावरण मान है।

४—चाहे जितने उपाय किये जायँ तो भी पत्थरका खम्भा जैसे नहीं नमता; उसी प्रकार जो मान कभी भी दूर नहीं किया जा सके, वह अनन्तानुबन्धी मान है।

दृष्टान्तोंके द्वारा माया और लोभका स्वरूप कहते हैं:—

मायावलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघणवंसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणो ॥ २० ॥

( अवलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघणवंसिमूलसमा ) अवलेखिका, गोमूत्रिका, मेषशृंग और घनवंशीमूलके समान ( माया ) माया; चार प्रकारकी है। ( हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणो ) हरिद्रा, खञ्जन, कर्दम और कृमिरागके समान ( लोहो ) लोभ चार प्रकार का है॥ २० ॥

भावार्थ—मायाका अर्थ है कपट, स्वभावका टेढ़ापन, मन में कुछ और, और बोलना या करना कुछ और। इसके चार भेद हैं:—

१—बांसका छिलका टेढ़ा होता है, पर बिना मेहनत वह हाथ से सीधा किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया, बिना परिश्रम दूर हो सके, उसे संज्वलनी माया कहते हैं।

२—चलता हुआ बैल जो मूतता है, उसे मूत्रकी टेढ़ी लकीर जमीनपर मालूम होने लगती है, वह टेढ़ापन हवासे धूलिके गिरनेपर नहीं मालूम देता, उसी प्रकार जिसका कुटिल स्वभाव, कठिनाईसे दूर हो सके, उसकी मायाको प्रत्याख्यानी माया कहते हैं।

३—भेड़के सींगका टेढ़ापन बड़ी मुश्किलसे अनेक उपायोंके द्वारा दूर किया जा सकता है; उसी प्रकार जो माया, अत्यन्त परिश्रमसे दूर की जा सके, उसे अप्रत्याख्यानावरणी माया कहते हैं।

४—कठिन बांसकी जड़का टेढ़ापन किसी भी उपायसे दूर नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार जो माया, किसी प्रकार दूर न हो सके, उसे अनन्तानुबन्धिनी माया कहते हैं।

धन, कुटुम्ब, शरीर आदि पदार्थोंमें जो ममता होती है, उसे लोभ कहते हैं। इसके चार भेद हैं, जिन्हें दृष्टान्तोंके द्वारा दिखलाते हैं:—

१—संज्वलन लोभ, हल्दीके रङ्गके सदृश है, जो सहज हीमें छूटता है।

२—प्रत्याख्यानावरण लोभ दीपकके कज्जलके सदृश है, जो कष्टसे छूटता है।

३—अप्रत्याख्यानावरण लोभ गाड़ीके पहियेके कीचड़के सदृश है, जो अति कष्टसे छूटता है।

४—अनन्तानुबन्धी लोभ, किरमिजी रङ्गके सदृश है, जो किसी उपायसे नहीं छूट सकता।

नोकषाय मोहनीयके हास्य आदि छह भेदः—

जस्सुदया होइ जिए हास रई अइ सोग भय कुच्छा।
सनिमित्तमन्नहा वा तं इह हासाइमोहणियं ॥ २१ ॥

(जस्सुदया) जिस कर्मके उदयसे (जिए) जीवमें अर्थात जीवको (हास) हास्य, (रई) रति, (अरइ) अरति, (सोग) शोक, (भय) भय और (कुच्छा) जुगुप्सा (सनिमित्तं) कारण वश (वा) अथवा (अन्नहा) अन्यथा-विना कारण (होइ) होती है, (तं) वह कर्म (इह) इस शास्त्रमें (हासाइमोहणियं) हास्य आदि मोहनीय कहा जाता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—सोलह कषायोंका वर्णन पहले हो चुका है। नव नोकषाय बाकी हैं, उनमेसे छह नोकषायोंका स्वरूप इस गाथाके द्वारा कहा जाता है, बाकीके तीन नोकषायोंको अगली गाथासे कहेंगे। छह नोकषायोंके नाम और उनका स्वरूप इस प्रकार है:—

१—जिस कर्मके उदयसे कारणवश अर्थात् भांड आदिकी चेष्टा को देखकर अथवा बिना कारण हँसी आती है, वह हास्य-मोहनीय कर्म कहलाता है।

यहां यह संशय होता है कि, बिना कारण हँसी किस प्रकार आवेगी? उसका समाधान यह है कि तात्कालिक बाह्य कारण की अविद्यमानतामें मानसिक विचारोंके द्वारा जो हँसी आती है वह बिना कारणकी है। तात्पर्य यह है कि तात्कालिक बाह्य पदार्थ हास्य आदिमें निमित्त हों तो सकारण, और सिर्फ मानसिक विचार ही निमित्त हों तो अकारण, ऐसा विवक्षित है।

२—जिस कर्मके उदयसे कारणवश अथवा बिना कारण पदार्थोंमें अनुराग हो—प्रेम हो, वह रतिमोहनीय कर्म है।

३—जिस कर्मके उदयसे कारणवश अथवा बिना कारण पदार्थोंसे अप्रीति हो, उद्वेग हो, वह अरतिमोहनीय कर्म है।

४—जिस कर्मके उदयसे कारणवश अथवा बिना कारण शोक हो, वह शोक मोहनीय कर्म है।

५—जिस कर्मके उदयसे कारणवश अथवा बिना कारण भय हो, वह भयमोहनीय कर्म है।

भय सात प्रकारका है :—१ इहलोक भय—जो दुष्ट मनुष्यों को तथा बलवानोंको देखकर होता है। २ परलोक भय—मृत्यु होनेके बाद कौनसी गति मिलेगी, इस बातको लेकर डरना। ३ आदान भय—चोर, डाकू आदिसे होता है। ४ अकस्मात् भय- बिजली आदिसे होता है। ५ आजीविका भय—जीवन निर्वाहके विषयमें होता है। ६ मृत्यु भय—मृत्युसे डरना और ७ अपयश भय—अपकीर्त्तिसे डरना।

६—जिस कर्मके उदयसे कारणवश अथवा बिना कारण, मांसादि बीभत्स पदार्थोंको देखकर घृणा होती है, वह जुगुप्सा मोहनीय कर्म है।

नोकषाय मोहनीयके अन्तिम तीन भेद :—

पुरिसित्थि तदुभयं पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सो उ।
थीनरनपुवेउदओ फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥ २२ ॥

( जव्वसा ) जिसके वशमें, जिसके प्रभावसे ( पुरिसित्थि- तदुभयं पइ ) पुरुषके प्रति, स्त्रीके प्रति तथा स्त्री-पुरुष दोनोंके प्रति ( अहिलासो ) अभिलाष—मैथुनकी इच्छा ( हवइ ) होती है, ( सो ) वह क्रमशः ( थीनरनपुवेउदओ ) स्त्रीवेद, पुरुष- वेद तथा नपुंसकवेदका उदय है। इन तीनों वेदोंका स्वरूप ( फुंफुमतणनगरदाहसमो ) करीषाग्नि, तृणाग्नि और नगरदाह के समान है ॥ २२ ॥

दसगं ) 'त्रस-दशक' कही जाती हैं। ( थावरदसं तु ) 'स्थावर-दशक' तो ( इमं ) यह, जिन्हें कि आगेकी गाथामें कहेंगे ॥ २६ ॥

भावार्थ— यहाँ भी प्रत्येक-प्रकृतिके साथ नाम शब्दको जोड़ना चाहिये। जैसे कि त्रसनाम, बादरनाम आदि। त्रससे लेकर यशःकीर्त्ति तक गिनतीमें दस प्रकृतियाँ हैं, इसलिये ये प्रकृतियाँ त्रस दशक कही जाती हैं। इसी प्रकार स्थावर-दशकको भी समझना चाहिये; जिसे कि आगेकी गाथामें कहने वाले हैं। त्रस-दशककी प्रकृतियोंके नामः—१ त्रस नाम, २ बादर नाम, ३ पर्याप्त नाम, ४ प्रत्येक नाम, ५ थिर नाम, ६ शुभनाम, ७ सुभग नाम, ८ सुस्वर नाम, ९ आदेय नाम और १० यशःकीर्त्ति नाम। इन प्रकृतियोंका स्वरूप आगे कहा जायगा।

स्थावर-दशक शब्दसे कौन-कौन प्रकृतियाँ ली जाती हैं:—

थावर सुहुम अपज्जं साहारणअथिरअसुभदुभगाणि ।
दुस्सरऽणाइज्जाजसमिय नामे सेयरा वीसं ॥ २७ ॥

( थावर ) स्थावर, ( सुहुम ) सूक्ष्म, ( अपज्ज ) अपर्याप्त, ( साहारण ) साधारण, ( अथिर ) अस्थिर, ( असुभ ) अशुभ, ( दुभगाणि ) दुर्भग, ( दुस्सरऽणाइज्जाजसं ) दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्त्ति, ( इय ) इस प्रकार ( नामे ) नाम कर्ममें ( सेयरा ) इतर अर्थात् त्रसदशकके साथ स्थावर-दशकको मिलानेसे ( वीसं ) बीस प्रकृतियाँ होती हैं ॥२७॥

भावार्थ—त्रस-दशकमें जितनी प्रकृतियाँ हैं, उनकी विरोधिनी प्रकृतियाँ स्थावर-दशकमें हैं। जैसे कि त्रसनामसे विपरीत स्थावरनाम, बादरनामसे विपरीत सूक्ष्मनाम, पर्याप्तनामका प्रतिपक्षी अपर्याप्तनाम। इसी प्रकार शेष प्रकृतियोंमें भी समझना चाहिये। त्रस-दशककी गिनती पुण्य-प्रकृतियोंमें और स्थावर दशककी गिनती पाप-प्रकृतियोंमें हैं। इन २० प्रकृतियोंको भः

प्रत्येक-प्रकृति कहते हैं। अतएव २५ वीं गाथामें कही हुई ८ प्रकृतियोंको इनके साथ मिलानेसे २८ प्रकृतियाँ, प्रत्येकप्रकृतियाँ हुई। नाम शब्दका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध पूर्ववत् समझना चाहिये। जैसे कि:—१ स्थावर नाम, २ सूक्ष्म नाम, ३ अपर्याप्त नाम, ४ साधारण नाम, ५ अस्थिर नाम, ६ अशुभ नाम, ७ दुर्भग नाम, ८ दुःस्वर नाम, ९ अनादेय नाम और १० अयशःकीर्त्ति नाम।

"ग्रन्थलाघवके अर्थ, अनन्तरोक्त त्रस आदि बीस प्रकृतियोंमें कतिपय संज्ञाओंको दो गाथाओंसे कहते हैं:—

तसचउ थिरछक्कं अथिरछक्क सुहुमतिग थावरचउक्कं।
सुभगतिगाइविभासा तदाइसंखाहिं पयडीहिं ॥२८॥

( तसचउ ) त्रसचतुष्क, ( थिरछक्कं ) स्थिरषट्क, ( अथिरछक्क ) अस्थिरषट्क ( सुहुमतिग ) सूक्ष्मत्रिक, ( थावरचउक्कं ) स्थावरचतुष्क, ( सुभगतिगाइविभासा ) सुभगत्रिक आदि विभाषाएँ कर लेनी चाहिये। सङ्केत करनेकी रीति यह है कि ( तदाइ संखाहिं पयडीहिं ) सङ्ख्याकी आदिमें जिस प्रकृतिका निर्देश किया गया हो, उस प्रकृतिसे निर्दिष्ट सङ्ख्याकी पूर्णता तक, जितनी प्रकृतियाँ मिलें, लेना चाहिये ॥ २८ ॥

भावार्थ—संकेतोंसे शास्त्रका विस्तार नहीं होता, इसलिये संकेत करना आवश्यक है। संकेत, विभाषा, परिभाषा, संज्ञा, ये शब्द समानार्थक हैं। यहाँपर संकेतकी पद्धति ग्रन्थकारने यों बतलाई है:—जिस संख्याके पहले, जिस प्रकृतिका निर्देश किया हो, उस प्रकृतिसे, जिस प्रकृतिपर संख्या पूर्ण हो जाय उस प्रकृतिको तथा बीचकी प्रकृतियोंको, उक्त संकेतोंसे लेना चाहिये। जैसे:—

११—जिसके उदयसे शरीरमें खट्टे, मीठे आदि रसोंकी उत्पत्ति होती है, उसे रसनाम कर्म कहते हैं।

१२—जिसके उदयसे शरीरमें कोमल, रूक्ष आदि स्पर्श हों, उसे स्पर्शनाम कर्म कहते हैं।

१३—जिस कर्मके उदयसे जीव विग्रहगतिमें अपने उत्पत्ति स्थानपर पहुँचता है, उसे आनुपूर्वीनाम कर्म कहते हैं।

आनुपूर्वी नामकर्मके लिए नाथका दृष्टान्त दिया गया है। जैसे इधर-उधर भटकते हुए बैलको नाथके द्वारा जहाँ चाहते हैं, ले जाते हैं, उसी प्रकार जीव जब समश्रेणीसे जाने लगता है, तब आनुपूर्वी कर्म, उसे जहाँ उत्पन्न होना हो वहाँ पहुँचा देता है।

१४—जिस कर्मके उदयसे जीवकी चाल (चलना), हाथी या बैल की चालके समान शुभ अथवा ऊँट या गधेकी चालके समान अशुभ होती है, उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न—विहायस् आकाशको कहते हैं। वह सर्वत्र व्याप्त है। उसको छोड़कर अन्यत्र गति हो ही नहीं सकती, फिर 'विहायस्' शब्द गतिका विशेषण क्यों? उत्तर—विहायस् विशेषण न रखकर सिर्फ गति कहेंगे तो नाम कर्मकी प्रथम प्रकृतिका नाम भी गति होनेके कारण पुनरुक्त दोषकी शङ्का हो जाती। इसलिए विहायस् विशेषण दिया गया है, जिससे जीवकी चालके अर्थमें गति शब्दको समझा जाय, न कि देवगति, नारकगति आदिके अर्थमें।

प्रत्येकप्रकृतिके आठ भेदः—

पिंडपयडित्ति चउदस परघाउस्सासआयवुज्जोयं।
अगुरुलहुतित्थनिमिणोवघायमिय अट्ठ पत्तेया॥२५॥

(पिंडपयडित्ति चउदस) इस प्रकार पूर्व गाथामें कही हुई प्रकृतियां, पिण्डप्रकृतियां कहलाती हैं और उनकी संख्या चौदह

है। ( परघा ) पराघात, ( उस्सास ) उच्छ्वास, ( आयवुज्जोयं ) आतप, उद्योत ( अगुरुलहु ) अगुरुलघु, ( तित्थ ) तीर्थंकर, ( निमिण ) निर्माण, और ( उवघायं ) उपघात, ( इय ) इस प्रकार ( अट्ठ ) आठ ( पत्तेया ) प्रत्येक प्रकृतियां हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ—'पिंडपयडित्ति चउदस' वाक्यका सम्बन्ध २४ वीं गाथाके साथ है। उसमें कही हुई गति, जाति आदि १४ प्रकृतियोंको 'पिंडप्रकृति' कहनेका मतलब है कि उनमेंसे हर एकके भेद हैं। जैसे, गतिनामके चार भेद, जातिनामके पांच भेद आदि। पिंडितका अर्थात् समुदायका ग्रहण होनेसे 'पिंडप्रकृति' कही जाती है।

प्रत्येकप्रकृतिके आठ भेद हैं। उनके हर एकके साथ 'नाम' शब्दको जोड़ना चाहिये। जैसे कि पराघात नाम, उच्छ्वास नाम आदि। प्रत्येकका मतलब एक एकसे है अर्थात् ये आठों प्रकृतियां एकही एक हैं इनके भेद नहीं हैं। इसलिए ये प्रकृतियां,'प्रत्येक प्रकृति' कही जाती हैं। वे ये हैं:—१ पराघात नाम कर्म, २ उच्छ्वास नाम कर्म, ३ आतप नाम कर्म, ४ उद्योत नाम कर्म, ५ अगुरुलघु नाम कर्म, ६ तीर्थंकर नाम कर्म, ७ निर्माण नाम कर्म और ८ उपघात नाम कर्म। इन प्रकृतियोंका अर्थ यहां इसलिये नहीं कहा गया कि खुद ग्रन्थकार ही आगे कहने वाले हैं।

त्रस-दशक शब्दसे कौन-कौन प्रकृतियाँ ली जाती हैं:—

तस बायर पज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च।
सुसराइज्ज जसं तसदसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥

( तस ) त्रस, ( बायर ) बादर, ( पज्जत्तं ) पर्याप्त, (पत्तेय) प्रत्येक (थिरं) स्थिर, (सुभं) शुभ, ( सुभगं ) सुभग, ( सुसराइज्ज ) सुस्वर, आदेय (च) और ( जसं ) यशःकीर्ति, ये प्रकृतियाँ ( तस

२—जो आयु किसी भी कारणसे कम न हो सके, अर्थात् जितने काल तककी पहले बान्धी गई है, उतने काल तक भोगी जावे, उस आयुको अनपवर्त्य आयु कहते हैं।

देव, नारक, चरम शरीरी अर्थात् उसी शरीरसे मोक्ष जाने वाले, उत्तमपुरुष अर्थात् तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि और जिनकी आयु असंख्यातवर्षों की है ऐसे मनुष्य और तिर्यञ्च, इनकी आयु अनपवर्तनीय ही होती है। इनसे इतर जीवोंकी आयुका नियम नहीं है। किसी जीवकी अपवर्तनीय और किसीकी अनपवर्तनीय होती है।

नाम कर्म चित्रकारके समान है; जैसे चित्रकार नाना भांतिके मनुष्य, हाथी, घोड़े आदिको चित्रित करता है; ऐसे ही नाम कर्म नाना भांतिके देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकोंकी रचना करता है।

नाम कर्मकी संख्या कई प्रकारसे कही गई है। किसी अपेक्षा से उसके ४२ भेद हैं, किसी अपेक्षासे ९३ भेद हैं, किसी अपेक्षासे १०३ भेद हैं, और किसी अपेक्षासे ६७ भेद भी हैं।

नाम कर्मके ४२ भेदोंको कहनेके लिये १४ पिण्डप्रकृतियाँ:—

गइजाइतणुउवंगा बंधणसंघायणाणि संघयणा।
संठाणवण्णगंधरसफासअणुपुव्विविहगगई ॥२४॥

( गइ ) गति, ( जाइ ) जाति, ( तणु ) तनु, ( उवंगा ) उपाङ्ग, ( बंधण ) बन्धन, ( संघायणाणि ) संघातन, (संघयणा) संहनन, ( संठाण ) संस्थान, ( वण्ण ) वर्ण, ( गंध ) गन्ध, ( रस ) रस, ( फास ) स्पर्श, ( अणुपुव्वि ) आनुपूर्वी, और ( विहगगइ ) विहायोगति, ये चौदह पिण्डप्रकृतियाँ हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ—नामकर्मकी जो पिण्डप्रकृतियाँ हैं, उनके १४ भेद हैं, प्रत्येकके साथ 'नाम' शब्दको जोड़ देना चाहिये। जैसे

गतिनाम। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियोंके साथ 'नाम' शब्दको जोड़ देना चाहिये। पिण्डप्रकृतिका अर्थ २५ वीं गाथामें कहेंगे।

१—जिस कर्मके उदयसे जीव, देव नारक आदि अवस्थाओं को प्राप्त करता है, उसे गतिनाम कर्म कहते हैं।

२—जिस कर्मके उदयसे जीव, एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि कहा जाय, उसे जातिनाम कर्म कहते हैं।

३—जिस कर्मके उदयसे जीवको औदारिक, वैक्रिय आदि शरीरोंकी प्राप्ति हो, उसे तनुनाम कर्म या शरीरनाम कर्म कहते हैं।

४—जिस कर्मके उदयसे जीवके अङ्ग ( सिर, पैर आदि ) और उपाङ्ग ( उँगली, कपाल आदि ) के आकारमें पुद्गलोंका परिणमन होता है, उसे अङ्गोपाङ्गनाम कर्म कहते हैं।

५—जिस कर्मके उदयसे, प्रथम ग्रहण किये हुये औदारिक आदि शरीरपुद्गलोंके साथ गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गलों का आपसमें सम्बन्ध हो, उसे बन्धननाम कर्म कहते हैं।

६—जिस कर्मके उदयसे शरीर-योग्य पुद्गल, प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर-पुद्गलोंपर व्यवस्थित रूपसे स्थापित किये जाते हैं, उसे सङ्घातननाम कर्म कहते हैं।

७—जिस कर्मके उदयसे, शरीरमें हाड़ोंकी सन्धियाँ ( जोड़ ) दृढ़ होती हैं, जैसे कि लोहेकी पट्टियोंसे किवाड़ मजबूत किये जाते हैं, उसे संहनननाम कर्म कहते हैं।

८—जिसके उदयसे, शरीरके जुदे-जुदे शुभ या अशुभ आकार होते हैं, उसे संस्थाननाम कर्म कहते हैं।

९—जिसके उदयसे शरीरमें कृष्ण, गौर आदि रङ्ग होते हैं, उसे वर्णनाम कर्म कहते हैं।

१०—जिसके उदयसे शरीरकी अच्छी या बुरी गन्ध हो, उसे गन्धनाम कर्म कहते हैं।

भावार्थ— नोकषाय मोहनीयके अन्तिम तीन भेदोंके नाम १ स्त्री वेद, २ पुरुषवेद और ३ नपुंसकवेद हैं।

१—जिस कर्मके उदयसे स्त्रीको पुरुषके साथ भोग करनेकी इच्छा होती है, वह स्त्रीवेद कर्म है। अभिलाषामें दृष्टान्त करीषाग्नि है। करीष सूखे गोबरको कहते हैं, उसकी आग, जैसी जैसी जलाई जाय वैसी ही वैसी बढ़ती है; उसी प्रकार पुरुषके कर-स्पर्शादि व्यापारसे स्त्रीकी अभिलाषा बढ़ती है।

२—जिस कर्मके उदयसे पुरुषको स्त्रीके साथ भोग करनेकी इच्छा होती है, वह पुरुषवेद कर्म है। अभिलाषामें दृष्टान्त तृणाग्नि है। तृणकी अग्नि शीघ्र जलती और शीघ्र ही बुझती है; उसी प्रकार पुरुषको अभिलाषा शीघ्र होती है और स्त्री-सेवनके बाद शीघ्र शान्त होती है।

३—जिस कर्मके उदयसे स्त्री और पुरुष दोनोंके साथ भोग करनेकी इच्छा होती है, वह नपुंसकवेद कर्म है। अभिलाषामें दृष्टान्त, नगर-दाह है। शहरमें आग लगे तो बहुत दिनोंमें शहरको जलाती है और उस आगके बुझानेमें भी बहुत दिन लगते हैं; उसी प्रकार नपुंसकवेदके उदयसे उत्पन्न हुई अभिलाषा चिरकाल तक निवृत्त नहीं होती और विषय-सेवनसे तृप्ति भी नहीं होती। इस प्रकार मोहनीय कर्मका व्याख्यान समाप्त हुआ। अब—

आयु कर्म और नाम कर्मके स्वरूप और भेदोंको कहते हैं:—

सुरनरतिरिनिरयाऊ हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं।
बायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥ २३ ॥

( सुरनरतिरिनिरयाऊ ) सुरायु, नरायु, तिर्यञ्चायु और नरकायु इस प्रकार आयु कर्मके चार भेद हैं। आयु कर्मका स्वभाव ( हडिसरिसं ) हडिके समान है। और ( नाम कम्म ) नाम कर्म

( चित्तिसमं ) चित्री-चित्रकार-चितेरेके समान है। वह नाम कर्म ( बायालतिनवइविहं ) बयालीस प्रकारका, तिरानवे प्रकारका (तिउत्तरसयं) एक सौ तीन प्रकारका ( च ) और ( सत्तट्ठी ) सरसठ प्रकारका है ॥२३॥

भावार्थ—आयु कर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ चार हैं:—१ देवायु २ मनुष्यायु, ३ तिर्यञ्चायु और ४ नरकायु। आयु कर्मका स्वभाव कारागृह ( जेल ) के समान है। जैसे, न्यायाधीश अपराधीको उसके अपराधके अनुसार अमुक काल तक जेलमें डालता है और अपराधी चाहता भी है कि मैं जेलसे निकल जाऊँ परन्तु अवधि पूरी हुये बिना नहीं निकल सकता; वैसे ही आयु कर्म जब तक बना रहता है तब तक आत्मा स्थूल-शरीरको नहीं त्याग सकता। जब आयु कर्मको पूरी तौरसे भोग लेता है तभी वह शरीरको छोड़ देता है। नारक जीव, नरक भूमिमें इतने अधिक दुःखी रहते हैं कि वे वहाँ जीनेकी अपेक्षा मरना ही पसन्द करते हैं परन्तु आयु कर्मके अस्तित्वसे-अधिक काल तक भोगने योग्य आयु कर्मके बने रहनेसे उनकी मरनेकी इच्छा पूर्ण नहीं होती। उन देवों और मनुष्योंको, जिन्हें कि विषय-भोगके साधन प्राप्त हैं, जीनेकी प्रबल इच्छा रहते हुये भी, आयु कर्मके पूर्ण होते ही परलोक सिधारना पड़ता है। अर्थात् जिस कर्मके अस्तित्वसे प्राणी जीता है और क्षयसे मरता है, उसे आयु कहते हैं। आयु कर्म दो प्रकार का है:—१ अपवर्त्तनीय और २ अनपवर्त्तनीय।

१—बाह्यनिमित्तसे जो आयु कम हो जाती है, उसको अपवर्त्तनीय या अपवर्त्य आयु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जलमें डूबने, आगमें जलने, शस्त्रकी चोट, जहर खाने आदि बाह्य कारणोंसे शेष आयुको, जो कि पच्चीस-पचास आदि वर्षों तक भोगने योग्य है, अन्तर्मुहूर्तमें भोग लेना आयुका अपवर्तन है। इसी आयुको दुनियामें "अकाल मृत्यु" कहते हैं।

त्रस-चतुष्क—१ त्रसनाम, २ बादरनाम, ३ पर्याप्तनाम और ४ प्रत्येकनाम, ये चार प्रकृतियाँ "त्रसचतुष्क" इस संकेतसे ली गई हैं। ऐसे ही आगे भी समझना चाहिये।

स्थिर-षट्क—१ स्थिरनाम, २ शुभनाम, ३ सुभगनाम, ४ सुस्वरनाम, ५ आदेयनाम और ६ यशःकीर्त्तिनाम।

अस्थिर-षट्क—१ अस्थिरनाम, २ अशुभनाम, ३ दुर्भगनाम, ४ दुःस्वरनाम, ५ अनादेयनाम और ६ अयशः कीर्त्तिनाम।

स्थावर-चतुष्क—१ स्थावरनाम, २ सूक्ष्मनाम, ३ अपर्याप्तनाम और ४ साधारणनाम।

सुभग-त्रिक—१ सुभगनाम, २ सुस्वरनाम और ३ आदेयनाम।

गाथामें 'आदि' शब्द है, इसलिये दुर्भग-त्रिकका भी संग्रह कर लेना चाहिये।

दुर्भग-त्रिक—१ दुर्भग, २ दुःस्वर और ३ अनादेय।

वण्णचउ अगुरुलहुचउ तसाइदुतिचउरछक्कमिच्चाई।
इय अन्नावि विभासा, तयाइ संखाहि पयडीहिं ॥२९॥

( वण्णचउ ) वर्णचतुष्क, ( अगुरुलहुचउ ) अगुरुलघुचतुष्क, ( तसाइ दुतिचउरछक्कमिच्चाई ) त्रसद्विक त्रस-त्रिक, त्रसचतुष्क, त्रसषट्क इत्यादि ( इय ) इस प्रकार ( अन्नावि विभासा ) अन्य विभाषाएँ भी समझनी चाहिये, ( तयाइ संखाहि पयडीहिं ) तदादिसंख्यक प्रकृतियोंके द्वारा ॥ २९ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त गाथामें कुछ सङ्केत दिखलाये गये हैं, उसी प्रकार इस गाथाके द्वारा भी कुछ दिखलाए जाते हैं:—

वर्ण-चतुष्क—१ वर्णनाम, २ गन्धनाम, ३ रसनाम और ४ स्पर्शनाम, ये चार प्रकृतियाँ 'वर्णचतुष्क' संकेतसे ली जाती हैं।

अगुरुलघु-चतुष्क—१ अगुरुलघुनाम, २ उपघातनाम, ३ पराघातनाम और ४ उच्छ्वासनाम।

त्रस-द्विक—१ त्रसनाम और २ बादरनाम।

त्रस-त्रिक—१ त्रसनाम, २ बादरनाम और ३ पर्याप्तनाम।

त्रस-चतुष्क—१ त्रसनाम, २ बादरनाम, ३ पर्याप्तनाम और ४ प्रत्येकनाम।

त्रस-षट्क—१ त्रसनाम, २ बादरनाम, ३ पर्याप्तनाम, ४ प्रत्येकनाम, ५ स्थिरनाम और ६ शुभनाम।

इनसे अन्य भी संकेत हैं। जैसे कि:—स्त्यानर्द्धि-त्रिक—१ स्त्यानर्द्धि, २ निद्रानिद्रा और ३ प्रचलाप्रचला।

२३ वीं गाथामें कहा गया था कि नामकर्मकी संख्याएँ भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे भिन्न भिन्न हैं अर्थात् उसके ४२ भेद भी हैं, और ६३ भेद भी हैं इत्यादि। ४२ भेद अब तक कहे गये। उन्हें यों समझना चाहिए:—१४ पिण्डप्रकृतियाँ २४ वीं गाथामें कही गईं; ८ प्रत्येकप्रकृतियाँ २५ वीं गाथामें कही गईं; त्रस-दशक और स्थावरदशककी २० प्रकृतियां क्रमशः २६ वीं और २७ वीं गाथामें कही गई हैं। इन सबको मिलानेसे नाम कर्मकी ४२ प्रकृतियां हुईं।

अब नामकर्मके ६३ भेदोंको कहनेके लिए १४ पिण्ड-प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियां कही जाती हैं:—

गइयाईण उ कमसो चउपणपणतिपणपंचछच्छक्कं।
पणदुगपणट्ठचउदुग इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥३०॥

(गइयाईण) गति आदिके (उ) तो (कमसो) क्रमशः (चउ) चार, (पण) पांच, (पण) पांच, (ति) तीन, (पण) पांच, (पंच) पांच, (छ) छह, (छक्कं) छह, (पण) पांच, (दुग) दो, (पणट्ठ) पांच, आठ, (चउ)

चार, और ( दुग ) दो, ( इय ) इस प्रकार ( उत्तरभेयपणसट्ठी ) उत्तर भेद पैंसठ हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—२४ वीं गाथामें १४ पिण्डप्रकृतियोंके नाम कहे गये हैं। इस गाथामें उनके हर एकके उत्तर-भेदोंकी संख्या कहते हैं। जैसे १ गतिनाम कर्मके ४ भेद, २ जातिनाम कर्मके ५ भेद, ३ तनु ( शरीर ) नाम कर्मके ५ भेद, ४ उपाङ्गनाम कर्मके ३ भेद, ५ बन्धननाम कर्मके ५ भेद, ६ संघातननाम कर्मके ५ भेद, ७ संहनननाम कर्मके ६ भेद, ८ संस्थाननाम कर्मके ६ भेद, ९ वर्ण-नाम कर्मके ५ भेद, १० गन्धनाम कर्मके २ भेद, ११ रसनाम कर्मके ५ भेद, १२ स्पर्शनाम कर्मके ८ भेद, १३ आनुपूर्वीनाम कर्मके ४ भेद, १४ विहायोगतिनाम कर्मके २ भेद; इस प्रकार उत्तर-भेदोंकी कुल संख्या ६५ होती है।

नाम कर्मकी ९३, १०३ और ६७ प्रकृतियाँ:—

अडवीस-जुया तिनवइ संते वा पनरबंधणे तिसय।
बंधणसंघायगहो तणूसु सामन्नवण्णचऊ ॥ ३१ ॥

(अडवीसजुआ) अट्ठाईस प्रत्येकप्रकृतियोंको पैंसठ प्रकृतियोंमें जोड़ देनेसे ( संते ) सत्तामें ( तिनवइ ) तिरानवे भेद होते हैं। (वा) अथवा इन ९३ प्रकृतियोंमें (पनरबंधणे) पन्दरह बंधनोंके वस्तुतः दस बंधनोंके जोड़ देनेसे (संते) सत्तामें (तिसयं) एकसौ तीन प्रकृतियाँ होती हैं, (तणूसु) शरीरोंमें अर्थात् शरीरके ग्रहणसे (बंधणसंघायगहो) बंधनों और संघातनोंका ग्रहण हो जाता है, और इसी प्रकार (सामन्नवन्नचऊ) सामान्य रूपसे वर्ण-चतुष्क का भी ग्रहण होता है ॥३१॥

भावार्थ—पूर्वोक्त गाथामें १४ पिण्डप्रकृतियोंकी संख्या, ६५ कही गई है; उनमें २८ प्रत्येकप्रकृतियाँ अर्थात् ८ पराघात आदि, १० त्रस आदि, और १० स्थावर आदि, जोड़ दिये जाँय

नाम कर्मकी ९३ प्रकृतियाँ सत्ताकी अपेक्षासे समझना चाहिये। इन ९३ प्रकृतियोंमें, बंधननामके ५ भेद जोड़ दिये गये हैं, परन्तु किसी अपेक्षासे बंधननामके १५ भेद भी होते हैं। ये सब, ९३ प्रकृतियोंमें जोड़ दिये जाँय तो नामकर्मके १०३ भेद होंगे अर्थात् बंधननामके १५ भेदोंमेंसे ५ भेद जोड़ देनेपर ९३ भेद कह चुके हैं, अब सिर्फ बंधननामके शेष १० भेद जोड़ना बाकी रह गया था, सो इनके जोड़ देनेसे ९३+१०=१०३ नाम कर्मके भेद सत्ताकी अपेक्षा हुये। नामकर्मकी ६७ प्रकृतियाँ इस प्रकार समझना चाहिये:—बन्ध नामके १५ भेद और संघातननामके ५ भेद, ये २० प्रकृतियाँ, शरीरनामके ५ भेदोंमें शामिल की जाँय, इसी तरह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शकी २० उत्तरप्रकृतियाँका चार प्रकृतियोंमें शामिल किया जाय। इस प्रकार वर्ण आदिकी १६ तथा बन्धन-संघातनकी २०, दोनोंको मिलानेसे ३६ प्रकृतियाँ हुई। नामकर्मकी १०३ प्रकृतियोंमेंसे ३६ को घटा देनेसे ६७ प्रकृतियाँ रहीं।

औदारिक आदि शरीरके सदृश ही औदारिक आदि बन्धन तथा औदारिक आदि संघातन हैं। इसीलिये बन्धनों और संघातनोंका शरीरनाममें अन्तर्भाव कर दिया गया। वर्णकी ५ उत्तर-प्रकृतियाँ हैं। इसी प्रकार गन्धकी २, रसकी ५ और स्पर्शकी ८ उत्तर-प्रकृतियाँ हैं। सामान्यको लेकर विशेष भेदोंकी विवक्षा नहीं की है, किन्तु सामान्य-रूपसे एक-एक ही प्रकृति ली गई है।

बन्ध आदिकी अपेक्षा कर्म-प्रकृतियोंकी जुदी २ संख्या—

इय सत्तट्ठी बंधोदए य न य सम्ममीसया बंधे।
बंधुदए सत्ताए वीसदुवीसट्ठवण्णसयं ॥ ३२ ॥

( इय ) इस प्रकार ( सत्तट्ठी ) सड़सठ प्रकृतियाँ ( बंधोदए ) बन्ध, उदय और ( य ) च अर्थात् उदीरणाकी अपेक्षा समझना

चाहिये। ( सम्ममीसया ) सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय ( बंध ) बन्धमें ( न य ) न च—नहीं लिये जाते, ( बंधुदए सत्ताए ) बन्ध, उदय और सत्ताकी अपेक्षा क्रमशः ( वीसं दुवीसट्ठवन्नसयं ) एकसौ बीस, एक सौ बाईस और एक सौ अट्ठावन कर्म प्रकृतियां ली जाती हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ—इस गाथामें बन्ध, उदय, उदीरणा तथा सत्ता की अपेक्षासे कुल कर्म-प्रकृतियोंकी जुदी-जुदी संख्याएँ कही हैं।

१२० कर्म-प्रकृतियां बन्धकी अधिकारिणी हैं। सो इस प्रकारः—नाम कर्मकी ६७, ज्ञानावरणीयकी ५, दर्शनावरणीयकी ६, वेदनीयकी २, मोहनीयकी २६, आयुकी ४, गोत्रकी २ और अन्तरायकी ५ सबको मिलाकर १२०, कर्म प्रकृतियां हुईं।

यद्यपि मोहनीय कर्मके २८ भेद हैं, परन्तु बन्ध २६ का ही होता है। सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। जिस मिथ्यात्व मोहनीयका बन्ध होता है, उसके कुछ पुद्गलोंको जीव अपने सम्यक्त्वगुणसे अत्यन्त शुद्ध कर देता है और कुछ पुद्गलोंको अर्द्ध-शुद्ध करता है। अत्यन्त-शुद्ध पुद्गल, सम्यक्त्वमोहनीय और अर्द्ध-शुद्ध पुद्गल मिश्रमोहनीय कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि दर्शनमोहनीय की दो प्रकृतियोंको-सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीयको कम कर देनेसे शेष १२० प्रकृतियां बन्ध योग्य हुईं।

अब इन्हीं बन्ध योग्य प्रकृतियोंमें मोहनीयकी जो दो प्रकृतियां घटा दी गई थीं, उनको मिला देनेसे १२२ कर्म प्रकृतियां उदय तथा उदीरणाकी अधिकारिणी हुईं, क्योंकि अन्यान्य प्रकृतियोंके समान ही सम्यक्त्वमोहनीय तथा मिश्रमोहनीयकी उदय-उदीरणा हुआ करती है।

१५८ अथवा १४८ प्रकृतियां सत्ताकी अधिकारिणी हैं। सो इस प्रकार :—ज्ञानावरणीयकी ५, दर्शनावरणीयकी ६, वेदनीय

की २, मोहनीयकी २८, आयुकी ४, नामकर्मकी १०३, गोत्रकी २ और अन्तरायकी ५ सब मिलकर १५८ हुई। इस संख्यामें बन्धन नामके १५ भेद मिलाए गये हैं। यदि १५ के स्थानमें ५ भेद ही बन्धनके समझे जांय तो १५८ मेंसे १० के घटा देनेपर सत्तायोग्य प्रकृतियोंकी संख्या १४८ होगी।

१४ पिण्डप्रकृतियोंमेंसे गति, जाति तथा शरीर नामके उत्तर भेदः—

निरयतिरिनरसुरगई इगबियतियचउपणिंदिजाइओ।
ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मण पण सरीरा ॥ ३३ ॥

( निरयतिरिनरसुरगई ) नरक गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतिनामकर्मके भेद हैं। (इगबियतियचउपणिंदिजाइओ ) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय ये जातिनामके पांच भेद हैं। (ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मणपणसरीरा ) औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण, ये पांच, शरीर नामकर्मके भेद हैं ॥ ३३ ॥

भावार्थ—गतिनामकर्मके चार भेदः—

१—जिस कर्मके उदयसे जीवको ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह नारक है ऐसा कहा जाय, वह नरकगतिनाम कर्म।

२—जिस कर्मके उदयसे जीवको ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह तिर्यञ्च है ऐसा कहा जाय, वह तिर्यञ्चगतिनामकर्म।

३—जिस कर्मके उदयसे जीवको ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह मनुष्य है ऐसा कहा जाय, वह मनुष्यगतिनाम कर्म।

४—जिस कर्मके उदयसे जीवको ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिसे देख यह देव है ऐसा कहा जाय, वह देवगतिनाम कर्म है।

जातिनामकर्मके पांच भेदः—

१—जिस कर्मके उदयसे जीवको सिर्फ एक इन्द्रिय—स्पर्शनेन्द्रियकी प्राप्ति हो उसे एकेन्द्रिय जातिनाम कर्म कहते हैं।

२—जिस कर्मके उदयसे जीवको दो इन्द्रियां—त्वचा और जीभ—प्राप्त हों, वह द्वीन्द्रियजातिनामकर्म है।

३—जिस कर्मके उदयसे तीन इन्द्रियां—त्वचा, जीभ और नाक—प्राप्त हों, वह त्रीन्द्रियजातिनाम कर्म है।

४—जिस कर्मके उदयसे चार इन्द्रियाँ—त्वचा, जीभ, नाक और आँख—प्राप्त हों वह चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म है।

५—जिस कर्मके उदयसे पाँच इन्द्रियां—त्वचा, जीभ नाक, आँख और कान प्राप्त हों, वह पञ्चेन्द्रिय जाति नाम कर्म है।

शरीर नामकर्मके पाँच भेद:—

१—उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्गलोंसे बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है, जिस कर्मसे ऐसा शरीर मिले उसे औदारिकशरीरनाम कर्म कहते हैं।

तीर्थङ्कर और गणधरोंका शरीर, प्रधान पुद्गलोंसे बनता है, और सर्वसाधारणका शरीर, स्थूल असार पुद्गलोंसे बनता है। मनुष्य और तिर्यञ्चको औदारिक शरीर प्राप्त होता है।

२—जिस शरीरसे विविध क्रियाएं होती हैं, उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं, जिस कर्मके उदयसे ऐसे शरीरकी प्राप्ति हो, उसे वैक्रिय शरीर नाम कर्म कहते हैं।

विविध क्रियाएँ ये हैं:—एक स्वरूप धारण करना, अनेक स्वरूप धारण करना; छोटा शरीर धारण करना, बड़ा शरीर धारण करना; आकाश में चलने योग्य शरीर धारण करना, भूमिपर चलने योग्य शरीर धारण करना; दृश्य शरीर धारण करना, अदृश्यशरीर धारण करना, इत्यादि अनेक प्रकार की अवस्थाओंको वैक्रिय शरीरधारी जीव कर सकता है।

वैक्रिय शरीर दो प्रकारके हैं:—औपपातिक और लब्धिप्रत्यय।

देव और नारकोंका शरीर औपपातिक कहलाता है अर्थात् उनको जन्मसे ही वैक्रिय शरीर मिलता है; लब्धिप्रत्यय शरीर,

तिर्यञ्च और मनुष्योंको होता है अर्थात् मनुष्य और तिर्यञ्च, तप आदिके द्वारा प्राप्त किये हुये शक्ति-विशेषसे वैक्रिय शरीर धारण कर लेते हैं।

३—चतुर्दशपूर्वधारी मुनि अन्य (महाविदेह) क्षेत्रमें वर्तमान तीर्थङ्करसे अपना सन्देह निवारण करने अथवा उनका ऐश्वर्य देखनेके लिये जब उक्त क्षेत्रको जाना चाहते हैं तब लब्धिविशेष से एक हाथ प्रमाण अतिविशुद्धस्फटिक-सा निर्मल जो शरीर धारण करते हैं, उसे आहारक शरीर कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे ऐसे शरीरकी प्राप्ति हो, वह आहारक शरीर नाम कर्म है।

४—तैजः पुद्गलोंसे बना हुआ शरीर तैजस कहलाता है। इस शरीरकी उष्णतासे खाये हुये अन्नका पाचन होता है। और कोई-कोई तपस्वी जो क्रोधसे तेजोलेश्याके द्वारा औरोंको नुकसान पहुँचाता है तथा प्रसन्न होकर शीतलेश्याके द्वारा फायदा पहुँचाता है, सो इसी तैजः शरीरके प्रभावसे समझना चाहिये। अर्थात् आहारके पाकका हेतु तथा तेजोलेश्या और शीतलेश्याके निर्गमनका हेतु जो शरीर, वह तैजसशरीर है। जिस कर्मके उदयसे ऐसे शरीरकी प्राप्ति होती है, वह तैजसशरीरनाम कर्म है।

५—कर्मोंका बना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है। जीव के प्रदेशोंके साथ लगे हुये ८ प्रकारके कर्मपुद्गलोंको कार्मण शरीर कहते हैं। यह कार्मणशरीर, सब शरीरोंका बीज है। इसी शरीरसे जीव अपने मरण-देशको छोड़ कर उत्पत्ति स्थानको जाता है। जिस कर्मसे कार्मणशरीरकी प्राप्ति हो, वह कार्मण-शरीर नाम कर्म है।

समस्त संसारी जीवोंको तैजस शरीर और कार्मणशरीर, ये दो शरीर अवश्य होते हैं।

उपाङ्गनाम कर्मके तीन भेद:—

बाहूरु पिट्ठि सिर उर उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा।
सेसा अंगोवंगा पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥ ३४ ॥

( बाहूरु ) भुजा, जँघा, ( पिट्ठि ) पीठ, ( सिर ) सिर, ( उर ) छाती और ( उयरंग ) पेट, ये अङ्ग हैं। ( अंगुली पमुहा ) उंगली आदि ( उवंग ) उपाङ्ग हैं। ( सेसा ) शेष ( अंगोवंगा ) अङ्गोपाङ्ग हैं। ( पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ) ये अङ्ग, उपाङ्ग, और अङ्गोपाङ्ग प्रथमके तीन शरीरमें ही होते हैं॥ ३४॥

भावार्थ---पिण्डप्रकृतियोंमें चौथा उपाङ्गनाम कर्म है। उपाङ्ग शब्दसे तीन वस्तुओंका—अङ्ग, उपाङ्ग और अङ्गोपाङ्गका ग्रहण होता है। ये तीनों अङ्गादि, औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरोंमें ही होते हैं। अन्तके तैजस और कार्मण इन दो शरीरमें नहीं होते, क्योंकि इन दोनोंका कोई संस्थान अर्थात् आकार नहीं होता; अङ्गोपाङ्ग आदिके लिये किसी न किसी आकृतिकी आवश्यकता है, सो प्रथमके तीन शरीरोंमें ही पाई जाती है।

अङ्गके आठ भेद हैं—दो भुजाएं, दो जंघाएं, एक पीठ, एक सिर, एक छाती और एक पेट। अङ्गके साथ जुड़े हुए छोटे अवयवोंको उपाङ्ग कहते हैं; जैसे, उंगली आदि। अंगुलियोंको रेखाओं तथा पर्वों आदिको अङ्गोपाङ्ग कहते हैं।

१. औदारिक शरीरके आकारमें परिणत पुद्गलोंसे अङ्गोपाङ्गरूप अवयव, जिस कर्मके उदयसे बनते हैं, उसे औदारिक-अङ्गोपाङ्गनाम कर्म कहते हैं। २. जिस कर्मके उदयसे, वैक्रिय शरीररूप परिणत पुद्गलोंसे अङ्गोपाङ्गरूप अवयव बनते हैं, वह वैक्रिय अङ्गोपाङ्गनाम कर्म है। ३. जिस कर्मके उदयसे, आहारक

तिर्यञ्च और मनुष्योंको होता है अर्थात् मनुष्य और तिर्यञ्च, तप आदिके द्वारा प्राप्त किये हुये शक्ति-विशेषसे वैक्रिय शरीर धारण कर लेते हैं।

३—चतुर्दशपूर्वधारी मुनि अन्य (महाविदेह) क्षेत्रमें वर्तमान तीर्थङ्करसे अपना सदेह निवारण करने अथवा उनका ऐश्वर्य देखनेके लिये जब उक्त क्षेत्रको जाना चाहते हैं तब लब्धिविशेष से एक हाथ प्रमाण अतिविशुद्धस्फटिक-सा निर्मल जो शरीर धारण करते हैं, उसे आहारक शरीर कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे ऐसे शरीरकी प्राप्ति हो, वह आहारक शरीर नाम कर्म है।

४—तेजः पुद्गलोंसे बना हुआ शरीर तैजस कहलाता है। इस शरीरकी उष्णतासे खाये हुये अन्नका पाचन होता है। और कोई-कोई तपस्वी जो क्रोधसे तेजोलेश्याके द्वारा औरोंको नुकसान पहुँचाता है तथा प्रसन्न होकर शीतलेश्याके द्वारा फायदा पहुँचाता है, सो इसी तैजः शरीरके प्रभावसे समझना चाहिये। अर्थात् आहारके पाचन हेतु तथा तेजोलेश्या और शीतलेश्याके निर्गमनका हेतु जो शरीर, वह तैजसशरीर है। जिस कर्मके उदयसे ऐसे शरीरकी प्राप्ति होती है, वह तैजसशरीरनाम कर्म है।

५—कर्मोंका बना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है। जीव के प्रदेशोंके साथ लगे हुये ८ प्रकारके कर्मपुद्गलोंको कार्मण शरीर कहते हैं। यह कार्मणशरीर, सब शरीरोंका बीज है। इसी शरीरसे जीव अपने मरण-देशको छोड़ कर उत्पत्ति स्थानको जाता है। जिस कर्मसे कार्मणशरीरकी प्राप्ति हो, वह कार्मण-शरीर नाम कर्म है।

समस्त संसारी जीवोंको तैजस शरीर और कार्मणशरीर, ये दो शरीर अवश्य होते हैं।

कार्मण शरीरकी नवीन उत्पत्ति नहीं होती, इस लिये उनमें देश-बन्ध होता है।

१—जिस कर्मके उदयसे, पूर्व-गृहीत—प्रथम ग्रहण किये हुये औदारिक पुद्‌गलोंके साथ, गृह्यमाण—वर्तमान समयमें जिनका ग्रहण किया जा रहा हो, ऐसे औदारिक पुद्‌गलोंका आपसमें मेल हो जावे, वह औदारिक शरीर बन्धननामकर्म है।

२—जिस कर्मके उदयसे पूर्वगृहीत वैक्रिय पुद्‌गलोंके साथ गृह्यमाणवैक्रिय पुद्‌गलोंका आपसमें मेल हो, वह वैक्रिय शरीर बन्धन नाम कर्म है।

३—जिस कर्मके उदयसे पूर्वगृहीत आहारक पुद्‌गलोंके साथ गृह्यमाण आहारक पुद्‌गलोंका आपसमें सम्बन्ध हो, वह आहारक शरीर बन्ध नाम कर्म है।

४—जिस कर्मके उदयसे पूर्वगृहीत तैजस पुद्‌गलोंके साथ गृह्यमाण तैजस पुद्‌गलोंका परस्पर बन्ध हो, वह तैजस शरीर बन्धन नाम कर्म है।

५—जिस कर्मके उदयसे पूर्व-गृहीत कार्मण पुद्‌गलोंके साथ, गृह्यमाण कार्मण पुद्‌गलोंका परस्पर सम्बन्ध हो, वह कार्मण शरीर बन्धन नाम कर्म है।

संघातन नाम कर्मके पांच भेद :—

जं संघायइ उरलाइपुग्गले तणगणं व दंताली।
तं संघायं बंधणमिव तणुनामेण पंचविहं ॥३६॥

( दंताली ) दंताली ( तणगणं व ) तृण-समूह के सदृश (जं) जो कर्म ( उरलाइपुग्गले ) औदारिक आदि शरीरके पुद्‌गलों को ( संघायइ ) इकट्ठा करता है ( तं संघायं ) वह संघातन नाम कर्म है। ( बंधणमिव ) बन्धन नाम कर्मकी तरह ( तणुनामेण ) शरीरनामकी अपेक्षासे वह ( पंचविहं ) पाँच प्रकारका है ॥३६॥

शरीर रूपसे परिणत पुद्गलोंसे अङ्गोपाङ्गरूप अवयव बनते हैं, वह आहारक अङ्गोपाङ्गनाम कर्म ६।

बन्धन नाम कर्मके पाँच भेदः—

उरलाइपुग्गलाणं निबद्धबज्झंतयाण संबंधं।
जं कुणइ जउसमं तं *उरलाईबंधणं नेयं ॥ ३५ ॥

( जं ) जो कर्म ( जउसमं ) जतु—लाखके समान ( निबद्धबज्झंतयाण) पहले बँधे हुए तथा वर्तमानमें बँधने वाले ( उरलाइपुग्गलाणं ) औदारिक आदि शरीरके पुद्गलोंका, आपसमें ( संबंधं ) सम्बन्ध ( कुणइ ) कराता है—परस्पर मिलाता है ( तं ) उस कर्मको ( उरलाइबंधणं ) औदारिक आदि बन्धननाम कर्म ( नेयं ) समझना चाहिये ॥ ३५ ॥

*भावार्थ—जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थों* से दो चीजें आपसमें जोड़ दी जाती हैं; उसी प्रकार बन्धननाम कर्म, शरीर नामके बलसे प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर पुद्गलों के साथ, वर्तमान समयमें जिनका ग्रहण हो रहा है ऐसे शरीर-पुद्गलोंको बाँध देता है—जोड़ देता है। यदि बन्धननाम कर्म न हो तो शरीराकार-परिणत पुद्गलोंमें उसी प्रकारकी अस्थिरता होती, जैसी कि वायु-प्रेरित, कुण्ड स्थित सक्तु ( सत्तु ) में होती है।

जो शरीर नये पैदा होते हैं, उनके प्रारम्भ-कालमें सर्व-बंध होता है। बाद, वे शरीर जब तक धारण किये जाते हैं, देश-बन्ध हुआ करता है। अर्थात्, जो शरीर नवीन नहीं उत्पन्न होंगे, उनमें, जब तक कि वे रहते हैं, देश-बन्ध ही हुआ करता है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक, इन तीन शरीरोंमें, उत्पत्ति के समय सर्व-बन्ध और बादमें देश-बन्ध होता है। तैजस और

---

* "बंधण मुरलाई तणुनामा" इत्यपि पाठान्तरम्।

और आहारकके ( नवं बंधणाणि ) नव बन्धन होते हैं। ( इयर तंसहियाणं ) इतर दो—तैजस और कार्मण इनके साथ अर्थात् मिश्रके साथ औदारिक, वैक्रिय और आहारकका संयोग होने पर (तिन्नि) तीन बन्धन प्रकृतियाँ होती हैं। (च) और (तेसि) इनके अर्थात् तैजस और कार्मणके, स्व तथा इतरसे संयोग होने पर, तीन बन्धन-प्रकृतियाँ होती हैं ॥३७॥

भावार्थ—इस गथामें बन्धननाम कर्मके १५ भेद कहे हैं:—

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनोंका स्वकीय पुद्गलोंसे अर्थात् औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर रूपसे परिणत पुद्गलोंसे, तैजस पुद्गलोंसे तथा कार्मण पुद्गलों से सम्बन्ध करानेवाले बन्धन नाम कर्मके नव भेद हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारकका हर एकका, तैजस और कार्मणके साथ युगपत् सम्बन्ध कराने वाले बन्धन नाम कर्मके तीन भेद हैं। तैजस और कार्मणका स्वकीय तथा इतरसे सम्बन्ध करानेवाले बन्धन नामकर्मके तीन भेद हैं। इस तरह बन्धन नाम कर्मके १५ भेद हुए। उनके नाम ये हैं:—

१ औदारिक-औदारिक-बन्धन नाम, २ औदारिक-तैजस-बन्धन नाम, ३ औदारिक-कार्मण-बन्धन नाम, ४ वैक्रिय-वैक्रिय-बन्धन नाम, ५ वैक्रिय तैजस-बन्धन नाम, ६ वैक्रिय-कार्मण-बन्धन नाम, ७ आहारक आहारक बन्धन नाम, ८ आहारक-तैजस-बन्धन नाम, ९ आहारक-कार्मण बन्धन नाम, १० औदारिक-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, ११ वैक्रिय-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, १२ आहारक-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, १३ तैजस-तैजस-बन्धन नाम, १४ तैजस-कार्मण बन्धन नाम, १५ कार्मण-कार्मण-बन्धन नाम।

इनका अर्थ यह है कि:— १. जिस कर्मके उदयसे, पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलोंके साथ गृह्यमाण औदारिक

भावार्थ—प्रथम ग्रहण किये हुये शरीर पुद्गलोंके साथ गृह्यमाण शरीर पुद्गलोंका परस्पर बन्ध तभी हो सकता है जब कि इन दोनों प्रकारके—गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलोंका परस्पर सान्निध्य हो। पुद्गलोंको परस्पर सन्निहित करना—एक दूसरेके पास व्यवस्थासे स्थापन करना संघातन कर्मका कार्य है। इसमें दृष्टान्त दन्तालीका है इधर उधर बिखरी हुई घास इकट्ठी की जाती है, फिर उस घासका गट्ठा बाँधा जाता है, उसी प्रकार संघातन नाम कर्म, पुद्गलोंको सन्निहित करता है और बन्धन नाम, उनको संबद्ध करता है।

शरीर नामकी अपेक्षासे जिस प्रकार बन्धन नामके पाँच भेद किये गये, उसी प्रकार संघातननामके भी पाँच भेद हैं:—

१—जिस कर्मके उदयसे औदारिक शरीरके रूपमें परिणत पुद्गलोंका परस्पर सान्निध्य हो, वह औदारिक संघातननामकर्म है

२—जिस कर्मके उदयसे वैक्रिय शरीरके रूपमें परिणत पुद्गलोंका परस्पर सान्निध्य हो, वह वैक्रिय संघातन नामकर्म है।

३—जिस कर्मके उदयसे आहारक शरीरके रूपमें परिणत पुद्गलोंका परस्पर सान्निध्य हो, वह आहारकसंघातन नामकर्म है।

४—जिस कर्मके उदयसे तैजस शरीरके रूपमें परिणत पुद्गलोंका परस्पर सान्निध्य हो, वह तैजस संघातन नाम कर्म है।

५—जिस कर्मके उदयसे कार्मण शरीरके रूपमें परिणत पुद्गलोंका परस्पर सान्निध्य हो, वह कार्मण संघातन नामकर्म है।

बन्धन नामकर्मके पन्द्रह भेद।—

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्ताणं।
नव बंधणाणि इयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥३७॥

(सगतेयकम्मजुत्ताणं) अपने अपने तैजस तथा कार्मणके साथ संयुक्त ऐसे (ओरालविउव्वाहारयाण) औदारिक, वैक्रिय

और आहारकके ( नवं बंधणाणि ) नवं बन्धन होते हैं। ( इयर नमहियाणं ) इतर दो—तैजस और कार्मण इनके साथ अर्थात् मिश्रके साथ औदारिक, वैक्रिय और आहारकका संयोग होने पर (तिन्नि) तीन बन्धन प्रकृतियाँ होती हैं। (च) और (तेसिं) उनके अर्थात् तैजस और कार्मणके, स्व तथा इतरसे संयोग होने पर, तीन बन्धन-प्रकृतियाँ होती हैं ॥३७॥

भावार्थ—इस गथामें बन्धननाम कर्मके १५ भेद कहे हैं :—

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनोंका स्वकीय पुद्गलोंसे अर्थात् औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर रूपसे परिणत पुद्गलोंसे, तैजस पुद्गलोंसे तथा कार्मण पुद्गलों से सम्बन्ध करानेवाले बन्धन नाम कर्मके नव भेद हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारकका हर एकका, तैजस और कार्मणके साथ युगपत् सम्बन्ध कराने वाले बन्धन नाम कर्मके तीन भेद हैं। तैजस और कार्मणका स्वकीय तथा इतरसे सम्बन्ध करानेवाले बन्धन नामकर्मके तीन भेद हैं। इस तरह बन्धन नाम कर्मके १५ भेद हुए। उनके नाम ये हैं:—

१ औदारिक-औदारिक-बन्धन नाम, २ औदारिक-तैजस-बन्धन नाम, ३ औदारिक-कार्मण-बन्धन नाम, ४ वैक्रिय-वैक्रिय-बन्धन नाम, ५ वैक्रिय तैजस-बन्धन नाम, ६ वैक्रिय-कार्मण-बन्धन नाम, ७ आहारक आहारक बन्धन नाम, ८ आहारक-तैजस-बन्धन नाम, ९ आहारक-कार्मण बन्धन नाम, १० औदारिक-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, ११ वैक्रिय-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, १२ आहारक-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, १३ तैजस-तैजस-बन्धन नाम, १४ तैजस-कार्मण बन्धन नाम, १५ कार्मण-कार्मण-बन्धन नाम।

इनका अर्थ यह है कि:— १. जिस कर्मके उदयसे, पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलोंके साथ गृह्यमाण औदारिक

भावार्थ——प्रथम ग्रहण किये हुये शरीर पुद्गलोंके साथ गृह्यमाण शरीर पुद्गलोंका परस्पर बन्ध तभी हो सकता है जब कि उन दोनों प्रकारके—गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलोंका परस्पर सान्निध्य हो। पुद्गलोंको परस्पर सन्निहित करना—एक दूसरेके पास व्यवस्थासे स्थापन करना संघातन कर्मका कार्य है। इसमें दृष्टान्त दन्तालीसे इधर उधर बिखरी हुई घास इकट्ठी की जाती है, फिर उस घासका गट्ठा बाँधा जाता है, उसी प्रकार सङ्घातन नाम कर्म, पुद्गलोंको सन्निहित करता है और बन्धन नाम, उनको संबद्ध करता है।

शरीर नामकी अपेक्षासे जिस प्रकार बन्धन नामके पाँच भेद किये गये, उसी प्रकार संघातननामके भी पाँच भेद हैं:—

१—जिस कर्मके उदयसे औदारिक शरीरके रूपमें परिणत पुद्गलोंका परस्पर सान्निध्य हो, वह औदारिक संघातननामकर्म है

२—जिस कर्मके उदयसे वैक्रिय शरीरके रूपमें परिणत पुद्गलोंका परस्पर सान्निध्य हो, वह वैक्रिय संघातन नामकर्म है।

३—जिस कर्मके उदयसे आहारक शरीरके रूपमें परिणत पुद्गलोंका परस्पर सान्निध्य हो, वह आहारकसंघातन नामकर्म है।

४—जिस कर्मके उदयसे तैजस शरीरके रूपमें परिणत पुद्गलोंका परस्पर सान्निध्य हो, वह तैजस संघातन नाम कर्म है।

५—जिस कर्मके उदयसे कार्मण शरीरके रूपमें परिणत पुद्गलोंका परस्पर सान्निध्य हो, वह कार्मण संघातन नामकर्म है।

बन्धन नामकर्मके पन्द्रह भेद :—

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्ताणं।
नव बंधणाणि इयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥३७॥

(सगतेयकम्मजुत्ताणं) अपने अपने तैजस तथा कार्मणके साथ संयुक्त ऐसे (ओरालविउव्वाहारयाण) औदारिक, वैक्रिय

और आहारकके ( नवं बंधणाणि ) नव बन्धन होते हैं। ( इयर रमसहियाणं ) इतर दो—तैजस और कार्मण इनके साथ अर्थात् मिश्रके साथ औदारिक, वैक्रिय और आहारकका संयोग होने पर (तिन्नि) तीन बन्धन प्रकृतियाँ होती हैं। (च) और (तेसि) उनके अर्थात् तैजस और कार्मणके, एवं तथा इतरसे संयोग होने पर, तीन बन्धन-प्रकृतियाँ होती हैं ॥३७॥

भावार्थ—इस गथामें बन्धननाम कर्मके १५ भेद कहे हैं :—

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनोंका स्वकीय पुद्गलोंसे अर्थात् औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर रूपसे परिणत पुद्गलोंसे, तैजस पुद्गलोंसे तथा कार्मण पुद्गलों से सम्बन्ध करानेवाले बन्धन नाम कर्मके नव भेद हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारकका हर एकका, तैजस और कार्मणके साथ युगपत् सम्बन्ध कराने वाले बन्धन नाम कर्मके तीन भेद हैं। तैजस और कार्मणका स्वकीय तथा इतरसे सम्बन्ध करानेवाले बन्धन नामकर्मके तीन भेद हैं। इस तरह बन्धन नाम कर्मके १५ भेद हुए। उनके नाम ये हैं:—

१ औदारिक-औदारिक-बन्धन नाम, २ औदारिक-तैजस-बन्धन नाम, ३ औदारिक-कार्मण-बन्धन नाम, ४ वैक्रिय-वैक्रिय-बन्धन नाम, ५ वैक्रिय तैजस-बन्धन नाम, ६ वैक्रिय-कार्मण-बन्धन नाम, ७ आहारक आहारक बन्धन नाम, ८ आहारक-तैजस-बन्धन नाम, ९ आहारक-कार्मण बन्धन नाम, १० औदारिक-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, ११ वैक्रिय-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, १२ आहारक-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, १३ तैजस-तैजस-बन्धन नाम, १४ तैजस-कार्मण बन्धन नाम, १५ कार्मण-कार्मण-बन्धन नाम।

इनका अर्थ यह है कि:— १. जिस कर्मके उदयसे, पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलोंके साथ गृह्यमाण औदारिक

संस्थाननाम कर्मके छह भेद और वर्णनाम कर्मके पाँच भेदः—

समचउरंसं निग्गोहसाइखुज्जाइ वामणं हुंडं ।
संठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥४०॥

( समचउरंसं ) समचतुरस्र, ( निग्गोह ) न्यग्रोध, ( साइ ) सादि, ( खुज्जाइ ) कुब्ज, ( वामणं ) वामन और ( हुण्डं ) हुण्ड, ये ( संठाणा ) संस्थान हैं । ( किण्ह ) कृष्ण, ( नील ) नील, ( लोहिय ) लोहित—लाल, ( हलिद्द ) हारिद्र—पीला, और ( सिया ) सित—श्वेत, ये ( वन्ना ) वर्ण हैं ॥ ४० ॥

भावार्थ—शरीरके आकारको संस्थान कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे संस्थानकी प्राप्ति होती है, उस कर्मको 'संस्थान-नाम कर्म' कहते हैं। इसके छह भेद हैं:—

१—समका अर्थ है समान, चतुःका अर्थ है चार और अस्र का अर्थ है कोण अर्थात् पालथी मारकर बैठनेसे जिस शरीरके चार कोण समान हों अर्थात् आसन और कपालका अन्तर, दोनों जानुओंका अन्तर, दक्षिण स्कन्ध और वाम जानुका अन्तर तथा वाम स्कन्ध और दक्षिण जानुका अन्तर समान हो तो समचतुरस्रसंस्थान समझना चाहिये, अथवा सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार जिस शरीरके संपूर्ण अवयव शुभ हों, उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे ऐसे संस्थानकी प्राप्ति होती है, उसे समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

२—बड़के वृक्षको न्यग्रोध कहते हैं। उसके समान, जिस शरीरमें, नाभिसे ऊपरके अवयव पूर्ण हों, किन्तु नाभिसे नीचेके अवयव हीन हों, वह न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है। जिस कर्मके उदयसे ऐसे संस्थानकी प्राप्ति होती है, उस कर्मका नाम न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान नामकर्म है।

३—जिस शरीरमें नाभिसे नीचेके अवयव पूर्ण और नाभि से ऊपरके अवयव हीन होते हैं, उसे सादि संस्थान कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे ऐसे संस्थानकी प्राप्ति होती है, उसे सादि संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

४—जिस शरीरके हाथ, पैर, सिर, गर्दन आदि अवयव ठीक हों, किन्तु छाती, पीठ, पेट हीन हों, उसे कुब्जसंस्थान कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे ऐसे संस्थानको प्राप्ति होती है, उसे कुब्जसंस्थान नामकर्म कहते हैं। लोकमें कुब्जको 'कुबड़ा' कहते हैं।

५—जिस शरीरमें हाथ, पैर आदि अवयव हीन—छोटे हों, और छाती पेट आदि पूर्ण हो, उसे वामन संस्थान कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे ऐसे संस्थानकी प्राप्ति होती है, उसे वामन संस्थान नाम कर्म कहते हैं। लोकमें वामनको 'बौना' कहते हैं।

६—जिसके समस्त अवयव बेढब हों—प्रमाण-शून्य हों, उसे हुण्ड संस्थान कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे ऐसे संस्थानकी प्राप्ति होती है, उसे हुण्ड संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

शरीरके रङ्गको वर्ण कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे शरीरोंमें जुदेजुदे रङ्ग होते हैं, उसे वर्णनामकर्म कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं:—

१. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर कोयले जैसा काला हो, वह कृष्ण-वर्णनाम कर्म। २. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर तोतेके पंख जैसा हरा हो, वह नील वर्णनाम कर्म। ३. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर हिंगुल या सिंदूर जैसा लाल हो, वह लोहित वर्णनाम कर्म। ४. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर हल्दी जैसा पीला हो, वह हारिद्र वर्णनाम कर्म और ५. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर शङ्ख जैसा सफेद हो वह सित वर्णनाम कर्म है।

गन्धनाम कर्म, रसनामकर्म और स्पर्शनाम कर्मके भेदः—

सुरहिदुरही रसा पण तित्तकडुकसायअंबिला महुरा।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्ह सिणिद्धरुक्खऽट्ठा ॥ ४१ ॥

(सुरहि) सुरभि और (दुरही) दुरभि दो प्रकारका गन्ध है। (तित्त) तिक्त, (कडु) कटु, (कसाय) कषाय, (अंबिला) आम्ल और (महुरा) मधुर, ये (रसा पण) पाँच रस हैं। (गुरु लहु मिउ खर सी उण्ह सिणिद्ध रुक्खऽट्ठा) गुरु, लघु, मृदु, खर, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष, ये आठ (फासा) स्पर्श हैं।

*भावार्थ—गन्धनाम कर्मके दो भेद हैं—सुरभिगन्ध नाम* और दुरभिगन्ध नाम। १. जिस कर्मके उदयसे जीवके शरीरकी कपूर कस्तूरी आदि पदार्थों जैसी सुगन्धि होती है, उसे 'सुरभिगन्ध नाम कर्म' कहते हैं। तीर्थंकर आदिके शरीर सुगन्धित होते हैं। २. जिस कर्मके उदयसे जीवके शरीरकी लहसुन या सड़े पदार्थों जैसी गन्ध हो, उसे 'दुरभिगन्धनाम कर्म' कहते हैं।

रसनाम कर्मके पाँच भेद हैं—तिक्तनाम, कटुनाम, कषायनाम, आम्लनाम और मधुरनाम। १. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर-रस, नीम या चिरायते जैसा कडुवा हो, वह 'तिक्तरस नाम कर्म।' २. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर-रस, सोंठ या काली मिर्च जैसा चरपरा हो, वह 'कटुरस नाम कर्म'। ३ जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर-रस, आँवला या बहेड़े जैसा कसैला हो, वह 'कषायरस नाम कर्म।' ४. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर-रस, नीबू या इमली जैसा खट्टा हो वह 'आम्लरस नाम कर्म।' ५ जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर-रस ईख जैसा मीठा हो, वह 'मधुररस नाम कर्म।'

स्पर्शनाम कर्मके आठ भेद हैं:—गुरु नाम, लघु नाम, मृदु

नाम, खर नाम, शीत नाम, उष्ण नाम, स्निग्ध नाम और रुक्ष नाम। १. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर लोहे जैसा भारी हो वह 'गुरुनाम कर्म।' २. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर आककी रुई (अर्क तूल) जैसा हलका हो वह 'लघुनाम कर्म'। ३. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर मक्खन जैसा कोमल—मुलायम हो, वह 'मृदुस्पर्शनाम कर्म'। ४. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर गायकी जीभ जैसा कर्कश—खरदरा हो, वह 'कर्कश नाम कर्म।' ५. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर कमल-दण्ड या बर्फ जैसा ठंडा हो, वह 'शीतस्पर्शनाम कर्म'। ६. जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर अग्निके समान उष्ण हो वह 'उष्णस्पर्शनाम कर्म।' ७. जिस कर्मके उदयसे जीव का शरीर घीके समान चिकना हो वह 'स्निग्धस्पर्शनाम कर्म'। ८ और जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर, राखके समान रूक्ष—रूखा हो, वह 'रूक्षस्पर्शनाम कर्म' है।

वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शकी बीस प्रकृतियोंमें कौन प्रकृतियाँ शुभ और कौन अशुभ हैं, सो कहते हैं:—

नीलकसिणं दुगंधं तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं।
सीयं च असुहनवगं इक्कारसगं सुभं सेसं ॥ ४२ ॥

(नील) नीलनाम, (कसिणं) कृष्णनाम, (दुगंधं) दुर्गन्ध नाम, (तित्तं) तिक्तनाम, (कडुयं) कटुनाम, (गुरुं) गुरुनाम, (खरं) खरनाम, (रुक्खं) रुक्षनाम, (च) और (सीयं) शीतनाम, यह (असुहनवगं) अशुभ-नवक है अर्थात् नव प्रकृतियाँ अशुभ हैं और (सेसं) शेष (इक्कारसगं) ग्यारह प्रकृतियाँ (सुभं) शुभ हैं ॥ ४२ ॥

भावार्थ—वर्णनाम, गन्ध नाम, रस नाम और स्पर्श नाम

इन चारोंकी उत्तर-प्रकृतियाँ २० हैं। २० प्रकृतियोंमें ६ प्रकृतियाँ अशुभ और ११ शुभ हैं।

( १ ) वर्णनाम- कर्मकी दो उत्तर प्रकृतियाँ अशुभ हैं—१ नील वर्णनाम और २ कृष्ण वर्णनाम। तीन प्रकृतियाँ शुभ हैं:—१सितवर्णनाम, २ पीतवर्णनाम और ३ लोहित वर्णनाम।

( २ ) गन्ध नामकी एक प्रकृति अशुभ है:—१ दुरभिगन्ध नाम। एक प्रकृति शुभ है:—१ सुरभिगन्धनाम।

( ३ ) रसनामकर्मकी दो उत्तर प्रकृतियाँ अशुभ हैं:—१ तिक्तरसनाम और २ कटुरसनाम। तीन प्रकृतियाँ शुभ हैं:—१ कषायरसनाम, २ आम्लरसनाम, और ३ मधुर रसनाम।

( ४ ) स्पर्शनाम कर्मकी चार उत्तर-प्रकृतियाँ अशुभ हैं:—१ गुरुस्पर्शनाम, २ खरस्पर्शनाम, ३ रूक्षस्पर्शनाम और ४ शीतस्पर्श नाम। चार उत्तर प्रकृतियाँ शुभ हैं:—१ लघुस्पर्शनाम, २ मृदु-स्पर्शनाम ३ स्निग्धस्पर्शनाम और ४ उष्णस्पर्शनाम।

आनुपूर्वी नामकर्मके चार भेद, नरक द्विक आदि संज्ञायें तथा विहायोगति नामकर्म:—

चउह गइव्वणुपुव्वी गइपुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं।
पुव्वीउदओ वक्के सुहअसुह वसुट्ट विहगगई॥४३॥

( चउह गइव्वणुपुव्वी ) चतुर्विध गतिनाम कर्मके समान आनुपूर्वी नामकर्म भी चार प्रकारका है, ( गइपुव्विदुगं ) गति और आनुपूर्वी ये दो, गति-द्विक कहलाते हैं ( नियाउजुयं ) अपनी अपनी आयुसे युक्त द्विकको ( तिगं ) त्रिक अर्थात् गति-त्रिक कहते हैं ( वक्के ) वक्र गतिमें—विग्रह गतिमें ( पुव्वी-उदओ ) आनुपूर्वी नामकर्मका उदय होता है। ( विहगगई ) विहायोगति नामकर्म दो प्रकारका है:—( सुह असुह ) शुभ और अशुभ इसमें दृष्टान्त है ( वसुट्ट ) वृष-बैल और उष्ट्र-ऊँट॥४३॥

भावार्थ—जिस प्रकार गतिनामकर्मके चार भेद हैं, उसी प्रकार आनुपूर्वी नामकर्मके भी चार भेद हैं:—(१) देवानुपूर्वी, (२) मनुष्यानुपूर्वी (३) तिर्यंचानुपूर्वी और (४) नरकानुपूर्वी।

जीवकी स्वाभाविक गति, श्रेणीके अनुसार होती है। आकाश-प्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं। एक शरीरको छोड़ दूसरा शरीर धारण करनेके लिये जब जीव, समश्रेणीसे अपने उत्पत्ति स्थानके प्रति जाने लगता है तब आनुपूर्वी नामकर्म, उसे उसके विश्रेणी पतित उत्पत्ति स्थानपर पहुँचा देता है। जीवका उत्पत्ति स्थान यदि समश्रेणीमें हो, तो आनुपूर्वी नाम कर्मका उदय नहीं होता। अर्थात् वक्र गतिमें आनुपूर्वी नामकर्मका उदय होता है, ऋजुगतिमें नहीं।

कुछ ऐसे सङ्केत, जिनका कि आगे उपयोग है:—

जहाँ 'गति-द्विक' ऐसा सङ्केत हो, वहाँ गति और आनुपूर्वी ये दो प्रकृतियाँ लेनी चाहिये। जहाँ 'गति-त्रिक' आवे, वहाँ गति, आनुपूर्वी और आयु ये तीन प्रकृतियाँ ली जाती हैं। ये सामान्य संज्ञाएँ कहीं गईं, विशेष संज्ञाओंको इस प्रकार समझना:—

नरक-द्विक—१ नरकगति और २ नरकानुपूर्वी।

नरक-त्रिक—१ नरकगति, २ नरकानुपूर्वी और ३ नरकायु।

तिर्यञ्च-द्विक—१ तिर्यंचगति और २ तिर्यंचानुपूर्वी।

तिर्यञ्च-त्रिक—१ तिर्यंचगति, २ तिर्यंचानुपूर्वी और ३ तिर्यंचायु।

इसी प्रकार सुर (देव)-द्विक, सुर-त्रिक; मनुष्य-द्विक, मनुष्यत्रिकको भी समझना चाहिये।

पिण्ड-प्रकृतियोंमें १४वीं प्रकृति, विहायोगतिनाम है, उसकी दो उत्तर प्रकृतियाँ हैं:—१ शुभविहायोगतिनाम और २ अशुभ-विहायोगतिनाम।

१—जिस कर्मके उदयसे जीवकी चाल शुभ हो, वह 'शुभविहायोगति' जैसे कि हाथी,बैल,हंस आदिकी चाल शुभ है।

२—जिस कर्मके उदयसे जीवकी चाल अशुभ हो, वह 'अशुभ विहायोगति' जैसे कि ऊँट, गधा, टीड़ी इत्यादिकी चाल अशुभ है।

पिण्ड प्रकृतियोंके ६५, या १५ बन्धनोंकी अपेक्षा ७५ भेद कह चुके हैं। अब प्रत्येक-प्रकृतियोंमेंसे पराघात और उच्छ्वास नाम कर्म कहते हैं:—

परघाउदया पाणी परेसि बलिणं पि होइ दुद्धरिसो।
ऊससणलद्धिजुत्तो हवेइ ऊसासनामवसा ॥ ४४ ॥

(परघाउदया) पराघात नाम कर्मके उदयसे (पाणी) प्राणी (परेसि बलिणंपि) अन्य बलवानोंको भी (दुद्धरिसो) दुर्धर्ष—अजेय (होइ) होता है। (ऊसासनामवसा) उच्छ्वास नाम कर्मके उदयसे (ऊससणलद्धिजुत्तो) उच्छ्वास-लब्धिसे युक्त(हवेइ) होता है।

भावार्थ—इस गाथासे लेकर ५१ वीं गाथा तक प्रत्येक प्रकृतियोंके स्वरूपका वर्णन करेंगे। इस गाथामें पराघात और उच्छ्वास नामकर्मका स्वरूप इस प्रकार कहा है:—

१—जिस कर्मके उदयसे जीव, कमजोरोंका तो कहना ही क्या है, बड़े-बड़े बलवानोंकी दृष्टिमें भी अजेय समझा जावे उसे 'पराघातनाम कर्म' कहते हैं। अर्थात् जिस जीवको इस कर्मका उदय रहता है, वह इतना प्रबल मालूम देता है कि बड़े-बड़े बली भी उसका लोहा मानते हैं, राजाओंकी सभामें उसके दर्शन मात्रसे अथवा वाक्कौशलसे बलवान् विरोधियोंके छक्के छूट जाते हैं।

२—जिस कर्मके उदयसे जीव, श्वासोच्छ्वास लब्धिसे युक्त होता है, उसे 'उच्छ्वासनाम कर्म' कहते हैं। शरीरसे बाहरकी

हवाको नासिका-द्वारा अन्दर खींचना 'श्वास' है, और शरीरके अन्दरकी हवाको नासिका-द्वारा बाहर छोड़ना 'उच्छ्वास'। इन दोनों कामोंको करनेकी शक्ति उच्छ्वास नाम कर्मसे होती है।

आतप नाम कर्म :—

रविबिंबे उ जियंगं तावजुयं आयवाउ न उ जलणे।
जमुसिणफासस्स तहिं लोहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥४५॥

( आयवाउ ) आतप नाम कर्मके उदयसे ( जियंगं ) जीवों का अङ्ग ( तावजुअं ) ताप-युक्त होता है, और इस कर्मका उदय ( रवि बिंबेउ ) सूर्य-मंडलके पार्थिव शरीरोंमें ही होता है। ( न उ जलणे ) किन्तु अग्निकाय जीवोंके शरीरमें नहीं होता, ( जमुसिणफासस्स तहिं ) क्योंकि अग्निकायके शरीरमें उष्ण-स्पर्श नामका और ( लोहियवन्नस्स ) लोहितवर्णनामका ( उदउत्ति ) उदय रहता है ॥ ४५ ॥

भावार्थ— जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर, स्वयं उष्ण न होकर भी, उष्ण प्रकाश करता है, उसे 'आतपनाम कर्म' कहते हैं। सूर्य्य-मंडलके बादर एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय जीवोंका शरीर ठंडा है, परन्तु आतपनाम कर्मके उदयसे वह ( शरीर ), उष्ण प्रकाश करता है। सूर्य्य-मण्डलके एकेन्द्रिय जीवोंको छोड़कर अन्य जीवोंको आतपनाम कर्मका उदय नहीं होता। यद्यपि अग्निकायके जीवोंका शरीर भी उष्ण प्रकाश करता है, परन्तु वह आतपनाम कर्मके उदयसे नहीं, किन्तु उष्णस्पर्शनाम कर्मके उदयसे है और लोहितवर्णनाम कर्मके उदयसे प्रकाश करता है।

उद्योतनाम कर्मका स्वरूप :—

अणुसिणपयासरूवं जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया।
जइदेवुत्तरविक्किय जोइसखज्जोयमाइव्व ॥ ४६ ॥

( इह ) यहाँ ( उज्जोया ) उद्योत नामकर्मके उदयसे (जियंगं)

जीवोंका शरीर ( अणुसिणपयासरूवं ) अनुष्ण प्रकाश रूप ( उज्जोयए ) उद्योत करता है, इसमें दृष्टान्त ( जइदेवुत्तरविक्किय जोइसखज्जोयमाइव्व ) साधु और देवोंके उत्तर वैक्रिय शरीरकी तरह, ज्योतिष्क—चन्द्र, नक्षत्र, तारामोंके मण्डलकी तरह और खद्योत—जुगनूकी तरह ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर उष्णस्पर्श रहित अर्थात् शीत प्रकाश फैलाता है, उसे 'उद्योत नामकर्म' कहते हैं। लब्धिधारी मुनि जब वैक्रिय शरीर धारण करते हैं, तब उनके शरीरमेंसे शीतल प्रकाश निकलता है, सो इस उद्योतनाम कर्मके उदयसे समझना चाहिये। इसी प्रकार देव जब अपने मूल शरीरकी अपेक्षा उत्तर-वैक्रिय शरीर धारण करते हैं, तब उस शरीरसे शीतल प्रकाश निकलता है, सो उद्योतनाम कर्मके उदयसे। चन्द्र मण्डल, नक्षत्र मण्डल और तारा मण्डलके पृथ्वीकाय जीवोंके शरीरसे शीतल प्रकाश निकलता है, वह उद्योत नाम कर्मके उदयसे। इसी प्रकार जुगनू, रत्न तथा प्रकाशवाली औषधियोंको भी उद्योतनाम कर्मका उदय समझना चाहिये।

अगुरुलघु नाम कर्मका और तीर्थंकर नाम कर्मका स्वरूप :—

अंगं न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया।
तित्थेण तिहुयणस्स वि पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥४७॥

( अगुरुलहुउदया ) अगुरुलघु नाम कर्मके उदयसे ( जीवस्स ) जीवका ( अंगं ) शरीर, ( न गुरु न लहुयं ) न तो भारी और न हलका ( जायइ ) होता है। ( तित्थेण ) तीर्थंकर नाम कर्मके उदयसे ( तिहुयणस्स वि पुज्जो ) त्रिभुवनका भी पूज्य होता है; ( से उदओ ) उस तीर्थंकर नाम कर्मका उदय, ( केवलिणो ) जिसे कि केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसीको होता है ॥ ४७ ॥

भावार्थ—जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर न भारी होता है और न हलका, उसे अगुरुलघुनाम कर्म कहते हैं। अर्थात् जीवोंका शरीर इतना भारी नहीं होता कि उसे सम्भालना कठिन हो जाय अथवा इतना हलका भी नहीं होता कि हवामें उड़नेसे नहीं बचाया जासके, किन्तु अगुरुलघु-परिमाण वाला होता है सो अगुरुलघुनामकर्मके उदयसे समझना चाहिये।

जिस कर्मके उदयसे तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है, उसे 'तीर्थंकर नाम कर्म' कहते हैं। इस कर्मका उदय उसी जीवको होता है, जिसे केवलज्ञान ( अनन्तज्ञान, पूर्ण ज्ञान ) उत्पन्न हुआ है। इस कर्मके प्रभावसे वह अपरिमित ऐश्वर्यको भोगता है। संसारके प्राणियोंको वह अपने अधिकार-युक्त वाणीसे उस मार्ग को दिखलाता है, जिसपर खुद चल कर उसने कृतकृत्य दशा प्राप्त की है। इसलिये संसारके बड़ेसे बड़े शक्तिशाली देवेन्द्र और नरेन्द्र तक उसकी अत्यन्त श्रद्धासे सेवा करते हैं।

निर्माण नामकर्म और उपघात नामकर्मका स्वरूपः—

अङ्गोवंगनियमणं निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं।
उवघाया उवहम्मइ सतणुवयवलंबिगाईहिं ॥४८॥

( निम्माणं ) निर्माण नाम कर्म ( अंगोवंगनियमणं ) अङ्गों और उपाङ्गोंका नियमन अर्थात् यथायोग्य प्रदेशोंमें व्यवस्थापन ( कुणइ ) करता है, इसलिये वह ( सुत्तहारसमं ) सूत्रधारके सदृश है। ( उवघाया ) उपघात नाम कर्मके उदयसे ( सतणुवयवलंबिगाईहिं ) अपने शरीरसे अवयव-भूत लंबिका आदिसे जीव ( उवहम्मइ ) उपहत होता है ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जिस कर्मके उदयसे, अङ्ग और उपाङ्ग, शरीरमें अपनी अपनी जगह व्यवस्थित होते हैं, वह 'निर्माण नाम कर्म'।

इसे सूत्रधारकी उपमा दी है। अर्थात् जैसे कारीगर हाथ पैर आदि अवयवोंको मूर्तिमें यथोचित स्थानपर बना देता है, उसी प्रकार निर्माण नाम कर्मका काम अवयवोंको उचित स्थानमें व्यवस्थापित करना है। इस कर्मके अभावमें अङ्गोपाङ्ग नाम कर्मके उदयसे बने हुए अङ्ग-उपाङ्गोंके स्थानका नियम नहीं होता। अर्थात् हाथोंकी जगह हाथ, पैरोंकी जगह पैर, इस प्रकार स्थान का नियम नहीं रहता।

जिस कर्मके उदयसे जीव अपने ही अवयवोंसे—प्रतिजिह्वा (पडजीभ), चौरदन्त (ओठसे बाहर निकले हुए दाँत), रसौली, छठी उंगली आदिमें क्लेश पाता है, वह 'उपघात-नाम कर्म' है।

त्रस-दशकमें त्रसनाम, बादर नाम और पर्याप्तनाम कर्मका स्वरूप:—

बितिचउपणिंदिय तसा बायरओ बायरा जिया थूला।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥ ४९ ॥

( तसा ) त्रसनाम कर्मके उदयसे जीव ( बितिचउपणिंदिय ) द्वीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होते हैं। ( बायरओ ) बादर नाम कर्मके उदयसे ( जिया ) जीव ( बायरा ) बादर अर्थात् ( थूला ) स्थूल होते हैं। ( पज्जत्ता ) पर्याप्तनामकर्मके उदयसे, जीव ( नियनियपज्जत्तिजुया ) अपनी अपनी पर्याप्तियोंसे युक्त होते हैं और वे पर्याप्त जीव ( लद्धिकरणेहिं ) लब्धि और करण को लेकर दो प्रकारके हैं ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जो जीव सर्दी-गर्मीसे अपना बचाव करनेके लिये एक स्थानको छोड़ दूसरे स्थानमें जाते हैं, वे 'त्रस' कहलाते हैं; ऐसे जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय हैं। जिस कर्मके उदयसे जीवको त्रसकायकी प्राप्ति हो, वह

त्रसनामकर्म है। और जिस कर्मके उदयसे जीव बादर अर्थात् स्थूल होते हैं, वह बादरनाम कर्म है।

आँख जिसे देख सके वह बादर, ऐसा बादरका अर्थ नहीं है; क्योंकि एक एक बादर पृथ्वीकाय आदिका शरीर आँखसे नहीं देखा जा सकता। बादर नामकर्म, जीव-विपाकिनी प्रकृति है यह जीवमें बादर-परिणामको उत्पन्न करती है। यह प्रकृति जीव-विपाकिनी होकर भी शरीरके पुद्गलोंमें कुछ अभिव्यक्ति प्रकट करती है, जिससे बादर पृथ्वीकाय आदिका समुदाय, दृष्टिगोचर होता है। जिन्हें इस कर्मका उदय नहीं है, ऐसे सूक्ष्म जीवोंके समुदाय दृष्टिगोचर नहीं होते। यहाँ यह शङ्का होती है कि बादर नामकर्म, जीवविपाकी प्रकृति होनेके कारण, शरीरके पुद्गलोंमें अभिव्यक्ति-रूप अपने प्रभावको कैसे प्रकट कर सकेगा? इसका समाधान यह है कि जीवविपाकी प्रकृतिका शरीरमें प्रभाव दिखलाना विरुद्ध नहीं है। क्योंकि क्रोध, जीवविपाकी प्रकृति है। तथापि उससे भौंहोंका टेढ़ा होना, आँखोंका लाल होना, होठों का फड़कना इत्यादि परिणाम स्पष्ट देखा जाता है। सारांश यह है कि कर्म-शक्ति विचित्र है, इसलिये बादर नामकर्म, पृथ्वीकाय आदि जीवमें एक प्रकारके बादर परिणामको उत्पन्न करता है और बादर पृथ्वीकाय आदि जीवोंके शरीर-समुदायमें एक प्रकारकी अभिव्यक्ति प्रकट करता है जिससे कि वे शरीर दृष्टि-गोचर होते हैं।

जिस कर्मके उदयसे जीव अपनी अपनी पर्याप्तियोंसे युक्त होते हैं, वह पर्याप्त नामकर्म है। जीवकी उस शक्तिको पर्याप्ति कहते हैं, जिसके द्वारा पुद्गलोंको ग्रहण करने तथा उनको आहार, शरीर आदिके रूपमें बदल देनेका काम होता है। अर्थात् पुद्गलों के उपचयसे जीवकी पुद्गलोंको ग्रहण करने तथा परिणमाने की शक्तिको पर्याप्ति कहते हैं। विषय-भेदसे पर्याप्तिके छह भेद हैं—आहार-पर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, उच्छ्वास-

इसे सूत्रधारकी उपमा दी है। अर्थात् जैसे कारीगर हाथ पैर आदि अवयवोंको मूर्तिमें यथोचित स्थानपर बना देता है, उसी प्रकार निर्माण नाम कर्मका काम अवयवोंको उचित स्थानमें व्यवस्थापित करना है। इस कर्मके अभावमें अङ्गोपाङ्ग नाम कर्मके उदयसे बने हुए अङ्ग-उपाङ्गोंके स्थानका नियम नहीं होता। अर्थात् हाथोंकी जगह हाथ, पैरोंकी जगह पैर, इस प्रकार स्थान का नियम नहीं रहता।

जिस कर्मके उदयसे जीव अपने ही अवयवोंसे—प्रतिजिह्वा (पडजीभ), चौरदन्त (ओठसे बाहर निकले हुए दाँत), रसौली, छठी उंगली आदिसे क्लेश पाता है, वह 'उपघात-नाम कर्म' है।

त्रस-दशकमें त्रसनाम, बादर नाम और पर्याप्तनाम कर्मका स्वरूप:—

बितिचउपणिंदिय तसा बायरओ बायरा जिया थूला।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥ ४९ ॥

(तसा) त्रसनाम कर्मके उदयसे जीव (बितिचउपणिंदिय) द्वीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होते हैं। (बायरओ) बादर नाम कर्मके उदयसे (जिया) जीव (बायरा) बादर अर्थात् (थूला) स्थूल होते हैं। (पज्जत्ता) पर्याप्तनामकर्मके उदयसे, जीव (नियनियपज्जत्तिजुया) अपनी अपनी पर्याप्तियोंसे युक्त होते हैं और वे पर्याप्त जीव (लद्धिकरणेहिं) लब्धि और करण को लेकर दो प्रकारके हैं॥ ४९॥

भावार्थ—जो जीव सर्दी-गर्मीसे अपना बचाव करनेके लिये एक स्थानको छोड़ दूसरे स्थानमें जाते हैं, वे 'त्रस' कहलाते हैं; ऐसे जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय हैं। जिस कर्मके उदयसे जीवको त्रसकायकी प्राप्ति हो, वह

त्रसनामकर्म है। और जिस कर्मके उदयसे जीव बादर अर्थात् स्थूल होते हैं, वह बादरनाम कर्म है।

आँख जिसे देख सके वह बादर, ऐसा बादरका अर्थ नहीं है; क्योंकि एक एक बादर पृथ्वीकाय आदिका शरीर आँखसे नहीं देखा जा सकता। बादर नामकर्म, जीव-विपाकिनी प्रकृति है वह जीवमें बादर-परिणामको उत्पन्न करती है। यह प्रकृति जीव-विपाकिनी होकर भी शरीरके पुद्गलोंमें कुछ अभिव्यक्ति प्रकट करती है, जिससे बादर पृथ्वीकाय आदिका समुदाय, दृष्टिगोचर होता है। जिन्हें इस कर्मका उदय नहीं है, ऐसे सूक्ष्म जीवोंके समुदाय दृष्टिगोचर नहीं होते। यहाँ यह शङ्का होती है कि बादर नामकर्म, जीवविपाकी प्रकृति होनेके कारण, शरीरके पुद्गलोंमें अभिव्यक्ति-रूप अपने प्रभावको कैसे प्रकट कर सकेगा? इसका समाधान यह है कि जीवविपाकी प्रकृतिका शरीरमें प्रभाव दिखलाना विरुद्ध नहीं है। क्योंकि क्रोध, जीवविपाकी प्रकृति है। तथापि उससे भौंहोंका टेढ़ा होना, आँखोंका लाल होना, होठों का फड़कना इत्यादि परिणाम स्पष्ट देखा जाता है। सारांश यह है कि कर्म-शक्ति विचित्र है, इसलिये बादर नामकर्म, पृथ्वीकाय आदि जीवमें एकप्रकारके बादर परिणामको उत्पन्न करता है और बादर पृथ्वीकाय आदि जीवोंके शरीर-समुदायमें एक प्रकारकी अभिव्यक्ति प्रकट करता है जिससे कि वे शरीर दृष्टि-गोचर होते हैं।

जिस कर्मके उदयसे जीव अपनी अपनी पर्याप्तियोंसे युक्त होते हैं, वह पर्याप्त नामकर्म है। जीवकी उस शक्तिको पर्याप्ति कहते हैं, जिसके द्वारा पुद्गलोंको ग्रहण करने तथा उनको आहार, शरीर आदिके रूपमें बदल देनेका काम होता है। अर्थात् पुद्गलों के उपचयसे जीवकी पुद्गलोंको ग्रहण करने तथा परिणमाने की शक्तिको पर्याप्ति कहते हैं। विषय-भेदसे पर्याप्तिके छह भेद हैं—आहार-पर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, उच्छ्वास-

पर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति।

मृत्युके बाद जीव, उत्पत्ति-स्थानमें पहुँच कर कार्मण-शरीर के द्वारा जिन पुद्गलोंको प्रथम समयमें ग्रहण करता है उनके छह विभाग होते हैं और उनके द्वारा एक साथ छहों पर्याप्तियोंका बनना शुरू हो जाता है। अर्थात् प्रथम समयमें ग्रहण किये हुये पुद्गलोंके छह भागोंमेंसे एक एक भाग लेकर हर एक पर्याप्तिका बनना शुरू हो जाता है, परन्तु उनकी पूर्णता क्रमशः होती है। जो औदारिक-शरीर-धारी जीव हैं, उनकी आहार-पर्याप्ति एक समयमें पूर्ण होती है, और अन्य पाँच पर्याप्तियाँ अन्तर्मुहूर्तमें क्रमशः पूर्ण होती हैं। वैक्रिय-शरीर-धारी जीवोंको शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण होनेमें अन्तर्मुहूर्त्त समय लगता है और अन्य पाँच पर्याप्तियोंके पूर्ण होनेमें एक एक समय लगता है।

१—जिस शक्तिके द्वारा जीव बाह्य आहारको ग्रहण कर उसे खल और रसके रूपमें बदल देता है, वह 'आहार पर्याप्ति' है।

२—जिस शक्तिके द्वारा जीव, रस रूपमें बदल दिये गये आहारको सात धातुओंके रूपमें बदल देता है, वह 'शरीर पर्याप्ति' है।

सात धातुः—रस, खून, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा (हड्डीके अन्दरका पदार्थ) और वीर्य। यहाँ यह सन्देह होता है कि आहार-पर्याप्तिसे आहारका रस बन चुका है, फिर शरीर-पर्याप्तिके द्वारा भी रस बनानेकी शुरुआत कैसे कही गई? इसका समाधान यह है कि आहार-पर्याप्तिके द्वारा आहारका जो रस बनता है, उसकी अपेक्षा शरीर-पर्याप्तिके द्वारा बना हुआ रस भिन्न प्रकारका होता है। और यही रस, शरीरके बननेमें उपयोगी है।

३—जिस शक्तिके द्वारा जीव, धातुओंके रूपमें बदले हुए

आहारको इन्द्रियोंके रूपमें बदल देता है, वह 'इन्द्रिय-पर्याप्ति' है।

४—जिस शक्तिके द्वारा जीव श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलोंको—श्वासोच्छ्वास-योग्य दलिकोंको ग्रहण कर, उनको श्वासोच्छ्वासके रूपमें बदल कर तथा अवलम्बन कर छोड़ देता है, वह 'उच्छ्वास-पर्याप्ति' है।

जो पुद्गल आहार-शरीर-इन्द्रियोंके बननेमें उपयोगी हैं, उनकी अपेक्षा, श्वासोच्छ्वासके पुद्गल भिन्न प्रकारके हैं। उच्छ्वास पर्याप्तिका जो स्वरूप कहा गया है, उसमें 'पुद्गलोंका ग्रहण करना, परिणामाना तथा अवलम्बन करके छोड़ना,' ऐसा कहा गया है। अवलम्बन कर छोड़ना—इसका तात्पर्य यह है कि छोड़नेमें भी शक्तिकी जरूरत होती है, इसलिये पुद्गलोंके अवलम्बन करनेसे एक प्रकारकी शक्ति पैदा होती है, जिससे पुद्गलोंको छोड़नेमें सहारा मिलता है। इसमें यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे, गेंदको फेंकनेके समय, जिस तरह हम उसे अवलम्बित करते हैं; अथवा बिल्ली, ऊपर कूदनेके समय, अपने शरीरके अवयवोंको संकुचित कर, जैसे उसका सहारा लेती है, उसी प्रकार जीव, श्वासोच्छ्वासके पुद्गलोंको छोड़नेके समय उसका सहारा लेता है। इसी प्रकार भाषापर्याप्ति और मनः पर्याप्तिमें भी समझना चाहिये।

५—जिस शक्तिके द्वारा जीव, भाषा-योग्य पुद्गलोंको लेकर उनको भाषाके रूपमें बदल कर तथा अवलम्बन कर छोड़ता है, वह 'भाषा-पर्याप्ति' है।

६—जिस शक्तिके द्वारा जीव, मनो योग्य पुद्गलोंको लेकर उनको मनके रूपमें बदल देता है तथा अवलम्बन कर छोड़ता है, वह 'मनःपर्याप्ति' है।

इन छह पर्याप्तियोंमेंसे प्रथमकी चार पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीवको, पाँच पर्याप्तियाँ विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञि पंचेन्द्रियको और छह पर्याप्तियाँ संज्ञिपंचेन्द्रियको होती हैं।

पर्याप्त जीवोंके दो भेद हैं:—लब्धि-पर्याप्त और करण पर्याप्त। १ जो जीव अपनी अपनी पर्याप्तियोंको पूर्ण करके मरते हैं, पहले नहीं, वे 'लब्धि-पर्याप्त।' २ करणका अर्थ है इन्द्रिय, जिन जीवोंने इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण कर ली है। अर्थात् आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं, वे 'करण-पर्याप्त' हैं; क्योंकि विना आहार-पर्याप्ति और शरीर-पर्याप्ति पूर्ण किये, इन्द्रिय-पर्याप्ति, पूर्ण नहीं हो सकती; इसलिये तीनों पर्याप्तियाँ ली गईं। अथवा अपनी योग्य पर्याप्तियाँ, जिन जीवों-ने पूर्ण की हैं, वे जीव, करण पर्याप्त कहलाते हैं। इस तरह करण-पर्याप्तके दो अर्थ हैं।

प्रत्येक, स्थिर, शुभ और सुभग नाम कर्मके स्वरूप:—

पत्तेय तणू पत्तेउदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं।
नाभुवरि सिराइ सुहं सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥५०॥

(पत्तेउदयेणं) प्रत्येक नाम कर्मके उदयसे जीवोंको (पत्तेयतणू) पृथक् पृथक् शरीर होते हैं। जिस कर्मके उदयसे (दन्त-अट्ठिमाइ) दाँत, हड्डी आदि स्थिर होते हैं, उसे (थिरं) स्थिर नाम कर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे (नाभुवरि सिराइ) नाभि के ऊपरके अवयव शुभ होते हैं, उसे (सुहं) शुभ नाम कर्म कहते हैं। (सुभगाओ) सुभगनाम कर्मके उदयसे, जीव (सव्व-जणइट्ठो) सब लोगोंको प्रिय लगता है ॥ ५० ॥

भावार्थ—जिस कर्मके उदयसे एक शरीरका एक ही जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येक नाम कर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे दाँत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीरके अवयव स्थिर अर्थात् निश्चल

होते हैं, उसे स्थिरनामकर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे नाभिके ऊपरके अवयव शुभ होते हैं, वह शुभनाम कर्म। हाथ, सिर आदि शरीरके अवयवोंसे स्पर्श होनेपर किसीको अप्रीति नहीं होती जैसे कि पैरके स्पर्शसे होती है, यही नाभिके ऊपरके अवयवोंमें शुभत्व है। जिस कर्मके उदयसे, किसी प्रकारका उपकार किये बिना या किसी तरहके सम्बन्धके बिना भी जीव सबका प्रीति-पात्र होता है, उसे सुभगनाम कर्म कहते हैं।

सुस्वरनाम, आदेयनाम, यशःकीर्तिनाम और स्थावर-दशकः—

सुसरा महुरसुहझुणी आइज्जा सव्वलोयगिज्झवओ।
जसओ जसकित्तीओ थावरदसगं विवज्जत्थं ॥ ५१ ॥

(सुसरा) सुस्वरनामके उदयसे (महुरसुहझुणी) मधुर और सुखद ध्वनि होती है। (आइज्जा) आदेयनामके उदयसे (सव्वलोयगिज्झवओ) सब लोग वचनका आदर करते हैं। (जसओ) यशःकीर्ति नामके उदयसे (जसकित्ती) यशःकीर्ति होती है। (थावर-दसगं) स्थावर-दशक, (इओ) इससे—त्रस-दशकसे (विवज्जत्थं) विपरीत अर्थवाला है ॥ ५१ ॥

भावार्थ—जिस कर्मके उदयसे जीवका स्वर (आवाज) मधुर और प्रीतिकर हो, वह 'सुस्वर नामकर्म' है। इसमें दृष्टान्त कोयल-मोर-आदि जीवोंका स्वर है। जिस कर्मके उदयसे जीव का वचन सर्व-मान्य हो, वह "आदेयनामकर्म' है। जिस कर्मके उदयसे संसारमें यश और कीर्ति फैले, वह 'यशःकीर्ति नामकर्म' है। किसी एक दिशामें नाम (प्रशंसा) हो, तो 'कीर्ति' और सब दिशाओंमें नाम हो, तो 'यश' कहलाता है। अथवा—दान, तप आदिसे जो नाम होता है, वह कीर्ति और शत्रुपर विजय प्राप्त करनेसे जो नाम होता है, वह यश कहलाता है।

त्रस-दशकका—त्रस नाम आदि दस कर्मोंका—जो स्वरूप

कहा गया है, उससे विपरीत, स्थावर-दशकका स्वरूप है। यथा:—

१. जिस कर्मके उदयसे जीव स्थिर रहें—सर्दी-गर्मीसे बचने की कोशिश न कर सकें, वह स्थावरनामकर्म है। पृथिवीकाय, जलकाय, तेजःकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय, ये स्थावर जीव हैं। यद्यपि तेजःकाय और वायुकायके जीवोंमें स्वाभाविक गति है तथापि द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवोंकी तरह सर्दी-गर्मीसे बचनेकी विशिष्ट-गति उनमें नहीं है।

२. जिस कर्मके उदयसे जीवको सूक्ष्म शरीर—जो किसीको रोक न सके और न खुद ही किसीसे रुके- प्राप्त हो, वह सूक्ष्म नाम कर्म है। इस नाम कर्म वाले जीव भी पाँच स्थावर ही होते हैं। ये सब लोकाकाशमें व्याप्त हैं। आँखसे नहीं देखे जा सकते।

३. जिस कर्मके उदयसे जीव, स्वयोग्य-पर्याप्ति पूर्ण न करें, वह अपर्याप्त नाम कर्म। अपर्याप्त जीवोंके दो भेद हैं:—लब्ध्य-पर्याप्त और करणापर्याप्त। जो जीव अपनी पर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही मरते हैं, वे लब्ध्यपर्याप्त। आहार, शरीर तथा इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियोंको जिन्होंने अब तक पूर्ण नहीं किया, किन्तु आगे पूर्ण करने वाले हों, वे करणापर्याप्त। लब्ध्यपर्याप्त जीव भी आहार-शरीर-इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरते हैं, पहले नहीं। क्योंकि आगामी भवकी आयु बाँध कर ही सब प्राणी मरा करते हैं और आयुका बन्ध उन्हीं जीवोंको होता है, जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं। आगम इस प्रकार कहता है।

४. जिस कर्मके उदयसे अनन्त जीवोंका एक ही शरीर हो, अर्थात् अनन्त जीव एक शरीरके स्वामी बनें, वह साधारण नाम कर्म है।

५. जिस कर्मके उदयसे कान, भौंह, जीव आदि अवयव अस्थिर अर्थात् चपल होते हैं, वह अस्थिरनामकर्म है।

६. जिस कर्मके उदयसे नाभिके नीचेके अवयव—पैर आदि अशुभ होते हैं, वह अशुभ नाम कर्म है। पैरसे स्पर्श होनेपर अप्रसन्नता होती है, यही अशुभत्व है।

७. जिस कर्मके उदयसे उपकार करने वाला भी अप्रिय लगे, वह दुर्भगनाम है। देवदत्त निरंतर दूसरोंकी भलाई किया करता है; तो भी उसे कोई नहीं चाहता, ऐसी दशामें समझना चाहिये कि देवदत्तको दुर्भग नाम कर्मका उदय है।

८. जिस कर्मके उदयसे जीवका स्वर कर्कश—सुननेमें अप्रिय लगे, वह दुःस्वर नाम कर्म है।

९. जिस कर्मके उदयसे जीवका वचन, युक्त होते हुए भी अनादरणीय समझा जाता है, वह अनादेय नाम कर्म है।

१०. जिस कर्मके उदयसे दुनियामें अपयश और अपकीर्ति फैले, वह अयशःकीर्ति नाम कर्म है।

स्थावर-दशक समाप्त हुआ। इस तरह नाम कर्मके ४२, ६३, १०३, और ६७ भेद कह चुके। अब :—

गोत्रकर्मके दो भेद और अन्तरायके पाँच भेद कहते हैं:—

गोयं दुहुचनीयं कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं।
विग्घं दाणे लाभे भोगुवभोगेसु वीरिए य ॥ ५२ ॥

( गोयं ) गोत्रकर्म ( दुहुचनीय ) दो प्रकार का है :—उच्च और नीच; यह कर्म ( कुलाल इव ) कुंभारके सदृश है, जो कि ( सुघडभुंभलाईयं ) सुघट और मद्यघट आदिको बनाता है। ( दाणे ) दान, ( लाभे ) लाभ, ( भोगुवभोगेसु ) भोग, उपभोग,

( ५ ) और (वीरिये) वीर्य, इनमें विघ्न करनेके कारण, (विग्घ) अन्तराय कर्म पाँच प्रकारका है ॥ ५२ ॥

भावार्थ—गोत्रकर्म ७ वाँ है। उसके दो भेद हैं :—उच्चैर्गोत्र और नीचैर्गोत्र। यह कर्म कुंभारके सदृश है। जैसे वह अनेक प्रकारके घड़े बनाता है, जिनमेंसे कुछ ऐसे होते हैं, जिनको कलश बनाकर लोग अक्षत, चन्दन आदिसे पूजते हैं, और कुछ ऐसे घड़े होते हैं, जो मद्य रखनेके काममें आते हैं; अतएव वे निन्द्य समझे जाते हैं। इसी प्रकार :—

१. जिस कर्मके उदयसे जीव उत्तम कुलमें जन्म लेता है, वह 'उच्चैर्गोत्र' और २. जिस कर्मके उदयसे जीव नीच कुलमें जन्म लेता है, वह 'नीचैर्गोत्र' है।

धर्म और नीतिकी रक्षाके सम्बन्धसे जिस कुलने चिरकालसे प्रसिद्धि प्राप्त की है वह उच्च-कुल। जैसे:—इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, चन्द्रवंश आदि। अधर्म और अनीतिके पालनसे जिस कुलने चिर कालसे प्रसिद्धि प्राप्त की है, वह नीच-कुल। जैसे:—भिक्षुक कुल, बधक कुल (कसाइयोंका), मद्यविक्रेतृ कुल (दारू बेचने वालों का) चौर-कुल इत्यादि।

अन्तरायकर्म, जिसका दूसरा नाम 'विघ्नकर्म' है, उसके पाँच भेद हैं :—१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय।

१. दान की चीजें मौजूद हों, गुणवान् पात्र आया हो, दान का फल जानता हो तो भी जिस कर्मके उदयसे जीवको दान करनेका उत्साह नहीं होता, वह 'दानान्तरायकर्म' है।

२. दाता उदार हो, दानकी चीजें मौजूद हों, याचनामें कुशलता हो तो भी जिस कर्मके उदयसे लाभ न हो, वह लाभान्तराय कर्म' है। यह न समझना चाहिये कि लाभान्तरायका उदय

याचकोंको ही होता है। यहां तो दृष्टान्त मात्र दिया गया है। योग्य सामग्रीके रहते हुए भी अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति जिस कर्मके उदयसे नहीं होने पाती, वह 'लाभान्तराय' है, ऐसा इस कर्मका अर्थ है।

३. भोगके साधन मौजूद हों, वैराग्य न हो, तो भी, जिस कर्मके उदयसे जीव, भोग्य चीजोंको न भोग सके, वह 'भोगान्तराय कर्म' है।

४. उपभोगकी सामग्री मौजूद हो, विरति रहित हो तथापि जिस कर्मके उदयसे जीव उपभोग्य पदार्थोंका उपभोग न ले सके, वह 'उपभोगान्तराय कर्म' है।

जो पदार्थ एक बार भोगे जाँय, उन्हें भोग कहते हैं, जैसे कि फल, फूल, जल, भोजन आदि। जो पदार्थ बार बार भोगे जाँय उनको उपभोग कहते हैं, जैसे कि मकान, वस्त्र, आभूषण, स्त्री आदि।

५. वीर्यका अर्थ है सामर्थ्य। बलवान हो, रोग रहित हो, युवा हो तथापि जिस कर्मके उदयसे जीव एक तृणको भी टेढ़ा न कर सके, वह 'वीर्यान्तराय' कर्म है। वीर्यान्तरायके भेद तीन हैं:- १ बालवीर्यान्तराय, २ पण्डितवीर्यान्तराय और ३ बाल-पण्डितवीर्यान्तराय।

१. सांसारिक कार्योंको करनेमें समर्थ हो तो भी जीव, उनको जिसके उदयसे न कर सके, वह बालवीर्यान्तरायकर्म। २. सम्यग्दृष्टि साधु, मोक्षकी चाह रखता हुआ भी, तदर्थ क्रियाओंको, जिसके उदयसे न कर सके, वह 'पण्डितवीर्यान्तरायकर्म। ३. देश विरतिको चाहता हुआ भी जीव, उसका पालन, जिसके उदयसे न कर सके, वह 'बालपण्डितवीर्यान्तरायकर्म है।'

अन्तरायकर्म भण्डारीके सदृश है:—

सिरिहरियसमं एयं जह पडिकूलेण तेण रायाई।
न कुणइ दाणाईयं एवं विग्घेण जीवोवि ॥ ५३ ॥

(एयं) यह अन्तरायकर्म (सिरिहरियसमं) श्रीगृही—भण्डारीके समान है, (जह) जैसे (तेण) उसके—भण्डारीके (पडिकूलेण) प्रतिकूल होनेसे (रायाई) राजा आदि (दाणाईयं) दान आदि (न कुणइ) नहीं करते—नहीं कर सकते। (एवं) इस प्रकार (विग्घेण) विघ्नकर्मके कारण (जीवो वि) जीव भी दान आदि नहीं कर सकता ॥ ५३ ॥

भावार्थ—देवदत्त याचकने राजा साहबके पास आकर भोजनकी याचना की। राजा साहब, भण्डारीको भोजन देने की आज्ञा देकर चल दिये। भण्डारी असाधारण है। आँखें लाल कर उसने याचकसे कहा—"चुपचाप चल दो" याचक खाली हाथ लौट गया। राजाकी इच्छा थी, पर भण्डारीने उसे सफल होने नहीं दिया। इस प्रकार जीव राजा है, दान आदि करने की उसकी इच्छा है, पर अन्तरायकर्म इच्छाको सफल नहीं होने देता।

८ मूल-प्रकृतियोंकी तथा १५८ उत्तर-प्रकृतियोंकी सूची:—

कर्मकी ८ मूल-प्रकृतियाँ:—१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय।

ज्ञानावरणकी ५ उत्तर-प्रकृतियाँ:—१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मनःपर्यायज्ञानावरण और ५ केवलज्ञानावरण।

दर्शनावरण की ९ उत्तर-प्रकृतियाँ:—१ चक्षुर्दर्शनावरण, २ अचक्षुर्दर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण, ४ केवलदर्शना-

चरण, ५ निद्रा, ६ निद्रानिद्रा, ७ प्रचला, ८ प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यानर्द्धि।

वेदनीय की २ उत्तर-प्रकृतियाँ:—१ सातावेदनीय और २ असातावेदनीय।

मोहनीयकी २८ उत्तर-प्रकृतियाँ:—१ सम्यक्त्वमोहनीय, २ मिश्रमोहनीय, ३ मिथ्यात्वमोहनीय, ४ अनन्तानुबन्धिक्रोध, ५ अप्रत्याख्यानक्रोध, ६ प्रत्याख्यानक्रोध, ७ संज्वलनक्रोध, ८ अनन्तानुबन्धिमान, ९ अप्रत्याख्यानमान, १० प्रत्याख्यानमान, ११ संज्वलनमान, १२ अनन्तानुबन्धिनी माया, १३ अप्रत्याख्यानमाया, १४ प्रत्याख्यानमाया, १५ संज्वलनमाया, १६ अनन्तानुबन्धिलोभ, १७ अप्रत्याख्यानलोभ, १८ प्रत्याख्यानलोभ, १९ सज्वलनलोभ, २० हास्य, २१ रति, २२ अरति, २३ शोक, २४ भय, २५ जुगुप्सा, २६ पुरुषवेद, २७ स्त्रीवेद और २८ नपुंसकवेद।

आयुकी ४ उत्तर-प्रकृतियाँ:—१ देवायु, २ मनुष्यायु, ३ तिर्यञ्चायु और ४ नरकायु।

नामकर्मकी १०३ उत्तर-प्रकृतियाँ:—१ नरकगति २ तिर्यञ्चगति, ३ मनुष्यगति, ४ देवगति, ५ एकेन्द्रियजाति, ६ द्वीन्द्रियजाति, ७ त्रीन्द्रिय जाति, ८ चतुरिन्द्रिय जाति, ९ पञ्चेन्द्रिय जाति, १० औदारिक शरीरनाम, ११ वैक्रिय शरीरनाम, १२ आहारकशरीरनाम, १३ तैजसशरीरनाम, १४ कार्मणशरीरनाम, १५ औदारिक अङ्गोपांग, १६ वैक्रियअङ्गोपांग, १७ आहारअंगोपांग, १८ औदारिक-औदारिक बन्धन, १९ औदारिक तैजसबन्धन, २० औदारिक-कार्मण बन्धन, २१ औदारिक-तैजसकार्मण बन्धन, २२ वैक्रिय-वैक्रियबन्धन, २३ वैक्रिय-तैजसबन्धन, २४ वैक्रिय-कार्मणबन्धन, २५ वैक्रियतैजसकार्मण-बन्धन, २६

आहारक-आहारकबन्धन, २७ आहारक तैजसबन्धन, २८ आहारक कार्मण बन्धन, २९ आहारक-तैजस-कार्मणबन्धन, ३० तैजस-तैजसबन्धन, ३१ तैजसकार्मणबन्धन, ३२ कार्मण-कार्मण-बन्धन, ३३ औदारिकसंघातन, ३४ वैक्रियसंघातन, ३५ आहारकसंघातन, ३६ तैजससंघातन, ३७ कार्मणसंघातन, ३८ वज्रऋषभनाराचसंहनन ३९ ऋषभनाराचसंहनन, ४० नाराचसंहनन, ४१ अर्द्ध नाराचसंहनन, ४२ कीलिकासंहनन, ४३ सेवार्तसंहनन, ४४ समचतुरस्रसंस्थान, ४५ न्यग्रोधसंस्थान, ४६ सादिसंस्थान, ४७ वामनसंस्थान, ४८ कुब्जसंस्थान, ४९ हुण्डसंस्थान, ५० कृष्णवर्णनाम, ५१ नीलवर्णनाम, ५२ लोहितवर्णनाम, ५३ हारिद्रवर्णनाम, ५४ श्वेतवर्णनाम, ५५ सुरभिगन्ध, ५६ दुरभिगंध, ५७ तिक्तरस, ५८ कटुरस, ५९ कषायरस, ६० आम्लरस, ६१ मधुरस, ६२ कर्कशस्पर्श, ६३ मृदुस्पर्श, ६४ गुरुस्पर्श, ६५ लघुस्पर्श, ६६ शीत, स्पर्श, ६७ उष्णस्पर्श, ६८ स्निग्धस्पर्श, ६९ रूक्षस्पर्श, ७० नरकानुपूर्वी, ७१ तिर्यचानुपूर्वी, ७२ मनुष्यानुपूर्वी, ७३ देवानुपूर्वी ७४ शुभविहायोगति, ७५ अशुभविहायोगति, ७६ पराघात ७७ उच्छ्वास, ७८ आतप, ७९ उद्योत, ८० अगुरुलघु, ८१ तीर्थंकरनाम, ८२ निर्माण, ८३ उपघात, ८४ त्रस, ८५ बादर, ८६ पर्याप्त, ८७ प्रत्येक, ८८ स्थिर, ८९ शुभ, ९० सुभग, ९१ सुस्वर, ९२ आदेय, ९३ यशःकीर्ति, ९४ स्थावर, ९५ सूक्ष्म, ९६ अपर्याप्त, ९७ साधारण, ९८ अस्थिर, ९९ अशुभ, १०० दुर्भग, १०१ दुःस्वर, १०२ अनादेय और १०३ अयशःकीर्ति।

गोत्र की २ उत्तर प्रकृतियां:—१ उच्चैर्गोत्र, और नीचैर्गोत्र।

अन्तराय की ५ उत्तर प्रकृतियां:—१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय।

बन्ध, उदय, उदीरणा, तथा सत्ता की अपेक्षा प्रकृतियां:—

| कर्म-नाम | ज्ञाना-वरण | दर्शना-वरण | वेदनीय | मोहनीय | आयु | नाम | गोत्र | अन्तराय | कुल संख्या |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बंध-योग प्रकृतियां | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६७ | २ | ५ | १२० |
| उदययोग प्रकृतियां | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ६७ | २ | ५ | १२२ |
| उदीरणा-योग्य प्रकृतियां | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ६७ | २ | ५ | १२२ |
| सत्तायोग्य प्रकृतियां | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | १०३ अथवा ९३ | २ | ५ | १५८-१४८ |

कर्मोंके स्थूल बन्ध हेतु तथा ज्ञानावरणदर्शनावरणके बन्ध हेतु :—

पडिणीयत्तण निन्हव उवघायपओसअंतराएणं ।
अच्चासायणयाए आवरणदुगं जिओ जयइ ॥ ५४ ॥

( पडिणीयत्तण ) प्रत्यनीकत्व अनिष्ट आचरण, ( निन्हव ) अपलाप, ( उवघाय ) उपघात—विनाश. ( पओस ) प्रद्वेष, (अंतराएणं) अन्तराय और ( अच्चासायणयाए ) अतिआशा-तना, इनके द्वारा ( जिओ ) जीव, आवरणदुगं ) आवरण-द्विक का ज्ञानावरणीयकर्म और दर्शनावरणीयकर्मका ( जयइ ) उपा-र्जन करता है ॥ ५४ ॥

भावार्थ—कर्म-बन्धके मुख्य हेतु मिथ्यात्व, अवि

कषाय और योग, ये चार हैं, जिनको कि चौथे कर्म-ग्रन्थमें विस्तारसे कहेंगे। यहां संक्षेपसे साधारण हेतुओंको कहते हैं। ज्ञानावरणीयकर्म और दर्शनावरणीयकर्मके बन्धके साधारण हेतु ये हैं:—

१. ज्ञानवान् व्यक्तियोंके प्रतिकूल आचरण करना। २. अमुक के पास पढ़कर भी मैंने इनसे नहीं पढ़ा है अथवा अमुक विषयको जानता हुआ भी मैं इस विषयको नहीं जानता, इस प्रकार अपलाप करना। ३. ज्ञानियोंका तथा ज्ञानके साधन—पुस्तक, विद्या-मन्दिर आदिका, शस्त्र, अग्नि आदिसे सर्वथा नाश करना। ४. ज्ञानियों तथा ज्ञानके साधनोंपर प्रेम न करना—उनपर अरुचि रखना। ५. विद्यार्थियोंके विद्याभ्यासमें विघ्न पहुँचाना, जैसे कि भोजन, वस्त्र, स्थान आदि स्थानका उनको लाभ होता हो, तो उसे न होने देना, विद्याभ्याससे छुड़ाकर उनसे अन्य काम करवाना इत्यादि। ६. ज्ञानियोंकी अत्यन्त आशातना करना; जैसे कि ये नीच कुलके हैं, इनके माँ-बापका पता नहीं है, इस प्रकार मर्मच्छेदी बातोंको लोकमें प्रकाशित करना, ज्ञानियों को प्राणान्त कष्ट हो इस प्रकारके जाल रचना इत्यादि।

इसी प्रकार निषिद्ध देश (स्मशान आदि) निषिद्ध काल (प्रतिपद्, दिन-रातका सन्धिकाल आदि) में अभ्यास करना, पढ़ानेवाले गुरुका विनय न करना, उंगलीमें थूक लगाकर पुस्तकोंके पत्र उलटना, ज्ञानके साधन पुस्तक आदिको पैरों से हटाना, पुस्तकोंसे तकियेका काम लेना, पुस्तकोंको भण्डार में पड़े-पड़े सड़ने देना किन्तु उनका सदुपयोग न होने देना, उदर-पोषणको लक्ष्यमें रखकर पुस्तकें बेचना, पुस्तकोंके पन्नों से जूते साफ करना, पढ़कर विद्याको बेचना, इत्यादि कामोंसे ज्ञानावरणकर्मका बन्ध होता है। इसी प्रकार दर्शनी-साधु आदि तथा दर्शनके साधन इन्द्रियोंका नष्ट करना इत्यादिसे दर्शनावरणीय कर्मका बन्ध होता है।

आत्माके परिणाम ही बन्ध और मोक्षके कारण हैं इस-लिये ज्ञानी और ज्ञान साधनोंके प्रति जरा सी भी लापरवाही दिखलाना अपना ही घात करना है; क्योंकि ज्ञान आत्माका गुण है, उसके अमर्यादित विकासको प्रकृतिने घेर रखा है। यदि प्रकृतिके परदेको हटा कर उस अनन्त ज्ञान-शक्ति-रूपिणी देवीके दर्शन करनेकी लालसा हो, तो उस देवीका और उससे सम्बन्ध रखने वाले ज्ञानी तथा ज्ञान-साधनोंका अन्तःकरणसे आदर करो, जरासा भी अनादर करोगे तो प्रकृतिका घेरा और भी मजबूत बनेगा। परिणाम यह होगा कि जो कुछ ज्ञान का विकास इस वक्त तुममें देखा जाता है वह और भी संकु-चित हो जायगा। ज्ञानके परिच्छिन्न होनेसे—उसके मर्यादित होनेसे ही सारे दुःखोंकी माला उपस्थित होती है, क्योंकि एक मिनिटके बाद क्या अनिष्ट होने वाला है, यह यदि तुम्हें मालूम हो, तो तुम उस अनिष्टसे बचनेकी बहुत कुछ कोशिश कर सकते हो। सारांश यह है कि जिस गुणके प्राप्त करनेसे तुम्हें वास्तविक आनन्द मिलने वाला है, उस गुणके अभिमुख होने के लिये जिन-जिन कामोंको न करना चाहिये उनको यहाँ दिख-लाना दयालु ग्रन्थकारने ठीक ही समझा।

सातावेदनीय तथा असातावेदनीयके बन्धके कारणः—

गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ।
दढधम्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ ॥ ५५ ॥

( गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ ) गुरुभक्तिसे युक्त, क्षमा-युक्त, करुणा-युक्त, व्रत-युक्त, योग-युक्त, कषाय-विजय-युक्त, दान-युक्त और ( दढधम्माई ) दृढ धर्म आदि ( सायं ) सातावेदनीयका ( अज्जइ ) उपार्जन करता है,

और ( विषजयको ) विपर्ययसे ( असाता ) असातावेदनीय का विपार्जन करता है ॥५४॥

भावार्थ—सातावेदनीय कर्मके बन्ध होनेमें कारण ये हैं— १, गुरुओंकी सेवा करना अपनेसे जो श्रेष्ठ हैं वे गुरु, जैसे कि माता, पिता, धर्माचार्य, विद्या सिखलानेवाला, ज्येष्ठ भ्राता आदि; २ क्षमा करना; अर्थात् अपनेमें बदला लेनेका सामर्थ्य रहते हुए भी, अपने साथ बुरा वर्ताव करने वालेके अपराधोंको सहन करना; ३ दया करना; अर्थात् दीन-दुःखियोंके दुःखोंको दूर करनेकी कोशिश करना, ४ अणुव्रतोंका अथवा महाव्रतोंका पालन करना; ५ योगका पालन करना; अर्थात् चक्रवाल आदि दस प्रकारकी साधुकी सामाचारी; जिसे संयमयोग कहते हैं, उसका पालन करना; ६ कषायोंपर विजय प्राप्त करना; अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभके वेगसे अपनी आत्माको बचाना, ७ दान करना—सुपात्रोंको आहार, वस्त्र आदिका दान करना, रोगियोंको औषधि देना, जो जीव, भयसे व्याकुल हो रहे हैं, उन्हें भयसे छुड़ाना, विद्यार्थियोंको पुस्तकोंका तथा विद्याका दान करना। अन्न-दानसे भी बढ़-कर विद्या-दान है, क्योंकि अन्नसे क्षणिक तृप्ति होती है, परन्तु विद्या-दानसे चिरकाल तक तृप्ति होती है। सब दानोंमें अभय-दान श्रेष्ठ है; ८ धर्ममें—अपनी आत्माके गुणोंमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें अपनी आत्माको स्थिर रखना।

गाथामें आदि शब्द है, इसलिये वृद्ध, बाल, ग्लान आदिकी वैयावृत्त्य करना, धर्मात्माओंको उनके धार्मिक कृत्यमें सहायता पहुँचाना, चैत्य-पूजन करना इत्यादि भी सातावेदनीयके बन्धमें कारण हैं, ऐसा समझना चाहिये।

जिन कृत्योंसे सातावेदनीयकर्मका बन्ध कहा गया है, उनसे

उलटे काम करनेवाले जीव असातावेदनीयकर्मको बाँधते हैं; जैसे कि-गुरुओंका अनादर करनेवाला, अपने ऊपर किये हुए अपकारोंका बदला लेनेवाला, क्रूरपरिणामवाला, निर्दय, किसी प्रकारके व्रतका पालन न करनेवाला, उत्कट कषायोंवाला, कृपण दान न करनेवाला, धर्मके विषयमें बेपरवाह, हाथी-घोड़े बैल आदिपर अधिक बोझा लादनेवाला, अपने आपको तथा औरों को शोक-सन्ताप हो ऐसा बर्ताव करनेवाला इत्यादि प्रकारके जीव।

साताका अर्थ है सुख और असाताका अर्थ है दुःख। जिस कर्मसे सुख हो, वह सातावेदनीय अर्थात् पुण्य है। जिस कर्मसे दुःख हो, वह असातावेदनीय अर्थात् पाप है।

दर्शनमोहनीयकर्मके बन्धके कारण—

उम्मग्गदेसणामग्गनासणादेवदव्वहरणेहिं।
दंसणमोहं जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीओ ॥ ५६ ॥

(उमग्गदेसणा) उन्मार्गदेशना—असत् मार्गका उपदेश, (मग्गनासणा) सत् मार्गका अपलाप, (देवदव्वहरणेहिं) देवद्रव्यका हरण, इन कामोंसे जीव (दंसणमोहं) दर्शनमोहनीय कर्मको बाँधता है; और वह जीव भी दर्शनमोहनीयको बाँधता है जो (जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीओ) जिन-तीर्थंकर, मुनि-साधु, चैत्य-जिन-प्रतिमाएँ, संघ-साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका-इनके विरुद्ध आचरण करता हो ॥ ५६ ॥

भावार्थ—दर्शनमोहनीयकर्मके बन्धहेतु ये हैं:—

१. उन्मार्गका उपदेश करना—जिन कृत्योंसे संसारकी वृद्धि होती है उन कृत्योंके विषयमें इस प्रकारका उपदेश करना कि मोक्षके हेतु हैं; जैसे कि देवी-देवोंके सामने पशुओंकी हिंसा

को पुण्य-कार्य है ऐसा समझाना, एकान्तसे ज्ञान अथवा क्रियाको मोक्ष-मार्ग बतलाना, दीवाली जैसे पर्वों पर जुआ खेलना पुण्य है इत्यादि उलटा उपदेश करना।

२. मुक्ति मार्गका अपलाप करना—न मोक्ष है, न पुण्य-पाप है, न आत्मा ही है, खाओ पीओ, ऐशो-आराम करो, मरनेके बाद न कोई आता है न जाता है, पासमें धन न हो तो कर्ज लेकर घी पीओ ( ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत ), तप करना तो शरीर को निरर्थक सुखाना है, आत्मज्ञानकी पुस्तकें पढ़ना मानों समय को बरबाद करना है, इत्यादि उपदेश देकर भोले-भाले जीवोंको सन्मार्गसे हटाना।

३. देव-द्रव्यका हरण करना—देव द्रव्यको अपने काममें खर्च करना, देव-द्रव्यकी व्यवस्था करनेमें बेपरवाही दिखलाना, दूसरा कोई उसका दुरुपयोग करता हो तो प्रतिकारकी सामर्थ्य रखते हुए भी मौन साध लेना, देव-द्रव्यसे अपना व्यापार करना; इसी प्रकार ज्ञान-द्रव्य तथा उपाश्रय द्रव्यका हरण भी समझना चाहिये।

४. जिनेन्द्र भगवान्‌की निन्दा करना—जैसे मुनियोंमें कोई सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता; समवसरणमें छत्र चामर आदिका उपभोग करनेके कारण उनको वीतराग नहीं कह सकते आदि।

५. साधुओंकी निन्दा करना या उनसे शत्रुता करना।

६. जिन-प्रतिमाकी निन्दा करना या उसे हानि पहुँचाना।

७. संघकी—साधु साध्वी-श्रावक-श्राविकाओंकी निन्दा करना या उनसे शत्रुता करना।

गाथामें आदि शब्द है, इसलिये सिद्ध, गुरु, आगम वगैरह को लेना चाहिये अर्थात् उनके प्रतिकूल बर्ताव करनेसे भी दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध होता है।

चरित्र मोहनीय कर्मके और नरकायुके बन्ध-हेतुः—

दुविहंपि चरणमोहं कसायहासाइविसयविवसमणो ।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥ ५७ ॥

( कसायहासाइविसयविवसमणो ) कषाय, हास्य, आदि तथा विषयोंसे जिसका मन पराधीन हो गया है ऐसा जीव, ( दुविहंपि ) दोनों प्रकारके ( चरणमोहं ) चारित्र मोहनीय कर्म को ( बंधइ ) बाँधता है; ( महारंभपरिग्गहरओ ) महान् आरम्भ और परिग्रहमें डूबा हुआ तथा ( रुद्दो ) रौद्र परिणाम वाला जीव, ( नरयाउ ) नरकको आयु बाँधता है ॥ ५७ ॥

भावार्थ—चारित्र मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियाँ—१६ कषाय, ६ हास्यादि और ३ वेद पहले कह आये हैं।

१ अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान माया-लोभके उदयसे जिनका मन व्याकुल हुआ है ऐसा जीव, अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण संज्वलन कषायोंको बाँधता है। यहाँ यह समझना चाहिये कि चारों कषायोंका—क्रोध मान माया लोभका एक साथ ही उदय नहीं होता, किन्तु चारोंमेंसे किसी एकका उदय होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना।

अप्रत्याख्यानावरण नामक दूसरे कषायके उदयसे पराधीन हुआ जीव, अप्रत्याख्यान आदि १२ प्रकारके कषायों को बाँधता है, अनन्तानुबन्धियोंको नहीं। प्रत्याख्यानावरण कषाय वाला जीव, प्रत्याख्यानावरण आदि आठ कषायोंको बाँधता है, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरणको नहीं। संज्वलनकषाय वाला जीव, संज्वलनके चार भेदोंको बाँधता है, औरोंको नहीं।

२. हास्य आदि नोकषायोंके वशसे जो जीव व्याकुल होता है, वह हास्य आदि ६ नोकषायोंको बाँधता है। (क) भाँड जैसी चेष्टा करने वाला, औरोंकी हँसी करने वाला, स्वयं हँसने वाला, बहुत बकवाद करने वाला जीव, हास्यमोहनीयकर्मको बाँधता है। (ख) देश आदिके देखनेकी उत्कण्ठा वाला, चित्र खींचनेवाला, खेलनेवाला, दूसरेके मनको अपने आधीन करनेवाला जीव रतिमोहनीयकर्मको बाँधता है। (ग) ईर्ष्यालु, पाप-शील, दूसरेके सुखोंका नाश करनेवाला, बुरे कर्मों में औरोंको उत्साहित करनेवाला जीव, अरतिमोहनीयकर्मको बाँधता है। (घ) खुद डरनेवाला, औरोंको डरानेवाला, औरोंको त्रास देनेवाला दया-रहित जीव, भयमोहनीयकर्मको बाँधता है। (ङ) खुद शोक करनेवाला, औरोंको शोक करानेवाला, रोनेवाला जीव, शोकमोहनीय कर्मको बाँधता है। (च) चतुर्विध संघकी निन्दा करनेवाला, घृणा करनेवाला, सदाचारकी निन्दा करनेवाला जीव, जुगुप्सामोहनीयकर्मको बाँधता है।

३. स्त्रीवेद आदिके उदयसे जीव, वेदमोहनीयकर्मों को बाँधता है। (क) ईर्ष्यालु विषयोंमें आसक्त, अतिकुटिल, परस्त्री-लम्पट जीव, स्त्रीवेदको बाँधता है। (ख) स्व-दार-सन्तोषी, मन्द-कषायवाला, सरल, शीलव्रती जीव, पुरुषवेदको बाँधता है। (ग) स्त्री-पुरुष सम्बन्धी काम-सेवन करनेवाला, तीव्र विषयाभिलाषी, सती स्त्रियोंका शील भंग करनेवाला जीव, नपुंसक वेदको बाँधता है।

४. नरकको आयुके बन्धमें ये कारण हैं:—(१) बहुत आरम्भ करना, अधिक परिग्रह रखना। (२) रौद्र परिणाम करना। इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय प्राणियोंका वध करना, मांस खाना, बार-बार मैथुन-सेवन करना, दूसरेका धन छीनना, इत्यादि

कामोंसे नरककी आयुका बन्ध होता है।

तिर्यञ्चकी आयुके तथा मनुष्यकी आयुके बन्ध-हेतुः—

तिरियाउ गूढहियओ सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ।
पयईइ तणुकसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ ॥५८॥

(गूढहियओ) गूढहृदयवाला अर्थात् जिसके दिलकी बात कोई न जान सके ऐसा, (सढो) शठ-जिसकी जबान मीठी हो पर दिलमें जहर भरा हो ऐसा, (ससल्लो) सशल्य अर्थात् महत्त्व कम हो जानेके भयसे प्रथम किये हुए पाप कर्मोंकी आलोचना न करने वाला, ऐसा जीव (तिरियाउ) तिर्यंचकी आयु बाँधता है; (तहा) उसी प्रकार (पयईइ) प्रकृतिसे-ही (तणुकसाओ) तनु अर्थात् अल्पकषायवाला, (दाणरुई) दान देनेमें जिसकी रुचि है ऐसा (अ) और ((मज्झिमगुणो) मध्यमगुणोंवाला अर्थात् मनुष्यायु-बन्धके योग्य क्षमा, मृदुता आदि गुणोंवाला जीव (मणुस्साउ) मनुष्यकी आयुको बाँधता है; क्योंकि अधमगुणोंवाला नरकायुको और उत्तमगुणोंवाला देवायुको बाँधता है, इसलिये मध्यगुणोंवाला कहा गया ॥५८॥

देवायु, शुभनाम और अशुभनामके बन्धहेतुः—

अविरयमाइ सुराउं बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ।
सरलो अगारविल्लो सुहनामं अन्नहा असुहं ॥५९॥

(अविरयमाइ) अविरत आदि, (बालतवोऽकामनिज्जरो) बालतपस्वी तथा अकामनिर्जरा करने वाला जीव (सुराउं) देवायुका (जयइ) उपार्जन करता है। (सरलो) निष्कपट और (अगार-विल्लो) गौरव-रहित जीव (सुहनामं) शुभनामको बाँधता है। (अन्नहा) अन्यथा—विपरीत—कपटी और गौरववाला

जीव अशुभनामको बाँधता है ॥४१॥

भावार्थ—ये जीव देवायुको बाँधते हैं:—१. अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य अथवा तिर्यंच, देशविरत अर्थात् श्रावक और सराग-संयमी साधु। २. बाल तपस्वी अर्थात् आत्म स्वरूपको न जानकर अज्ञानपूर्वक कायक्लेश आदि तप करने वाला मिथ्यादृष्टि। ३. अकामनिर्जरा अर्थात् इच्छाके न होते हुए भी जिसके कर्मकी निर्जरा हुई है ऐसा जीव। तात्पर्य यह है कि अज्ञानसे भूख, प्यास, ठंडी, गरमीको सहन करना; स्त्रीकी अप्राप्तिसे शीलको धारण करना इत्यादिसे जो कर्मकी निर्जरा होती है, उसे 'अकामनिर्जरा' कहते हैं।

जो जीव शुभनामकर्मको बाँधते हैं, वे ये हैं:—

१. सरल अर्थात् माया-रहित-मन-वाणी-शरीरका व्यापार जिसका एकसा हो ऐसा जीव शुभनामको बाँधता है। २. गौरव-रहित। तीन प्रकारका गौरव है:—ऋद्धि-गौरव, रस-गौरव और सात गौरव। ऋद्धिका अर्थ है ऐश्वर्य—धनसम्पत्ति, इससे अपनेको महत्वशाली समझना, यह ऋद्धिगौरव है। मधुराम्ल आदि रसोंसे अपना गौरव समझना यह रसगौरव है। शरीरके आरोग्यका अभिमान रखना सातगौरव है। इन तीनों प्रकारके गौरवसे रहित जीव शुभनामकर्मको बाँधता है। इसी प्रकार पापसे डरने वाला, क्षमावान्, मार्दव आदि-गुणोंसे युक्त जीव शुभनामको बाँधता है।

जिन कार्योंसे शुभनाम कर्मका बन्धन होता है उनसे विपरीत कार्य करनेवाले जीव अशुभनामकर्मको बाँधते हैं जैसे कि—मायावी अर्थात् जिनके मन, वाणी और आचरणमें भेद हो; दूसरोंको ठगने वाले, झूठी गवाही देने वाले; घीमें चर्बी और दूधमें पानी मिला कर बेचने वाले; अपनी तारीफ और

दूसरोंकी निन्दा करनेवाले वेश्याओंको वस्त्र-अलंकार आदि देनेवाले; देव-द्रव्य, उपाश्रय और ज्ञानद्रव्य खाने वाले या उनका दुरुपयोग करनेवाले; ये जीव अशुभ नामकी अर्थात् नरकगति-अयशः-कीर्ति-एकेन्द्रियजाति आदि कर्मोंको बाँधते हैं।

गोत्रकर्मके बन्ध हेतुः—

गुणपेही मयरहिओ अज्झयणऽज्झावणारुई निच्चं ।
पकुणइ जिणाइभत्तो उच्चं नीयं इयरहा उ ॥ ६० ॥

(गुणपेही) गुण-प्रेक्षी—गुणोंको देखनेवाला, (मयरहिओ) मद-रहित—जिसे अभिमान न हो, (निच्चं) नित्य (अज्झयणऽज्झावणारुई) अध्ययनाध्यापनरुचि—पढ़ने-पढ़ानेमें जिसकी रुचि है, (जिणाइभत्तो) जिन-भगवान् आदिका भक्त ऐसा जीव (उच्चं) उच्चगोत्रका (पकुणइ) उपार्जन करता है। (इयरहा उ) इतरथा तु—इससे विपरीत तो (नीयं) नीचगोत्र को बाँधता है ॥ ६० ॥

भावार्थ—उच्चैर्गोत्रकर्मके बाँधनेवाले जीव इस प्रकारके होते हैं:—

१. किसी व्यक्तिमें दोषोंके रहते हुए भी उनके विषयमें उदासीन, सिर्फ गुणोंको ही देखनेवाले। २. आठ प्रकारके मदोंसे रहित अर्थात्, जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, श्रुतमद, ऐश्वर्यमद, लाभमद और तपोमद इनसे रहित। ३. हमेशः पढ़ने-पढ़ानेमें जिनका अनुराग हो, ऐसे जीव। ४. जिनेन्द्र भगवान्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, माता, पिता तथा गुणवानोंकी भक्ति करनेवाले जीव। ये उच्चगोत्रको बाँधते हैं।

जिन कृत्योंसे उच्चगोत्रका बन्धन होता है, उनसे उलटे काम

जीव अशुभनामको बाँधता है ॥५८॥

भावार्थ—ये जीव देवायुको बाँधते हैं:—१. अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य अथवा तिर्यंच, देशविरत अर्थात् श्रावक और सरागसंयमी साधु। २. बाल तपस्वी अर्थात् आत्म स्वरूपको न जानकर अज्ञानपूर्वक कायक्लेश आदि तप करने वाला मिथ्यादृष्टि। ३. अकामनिर्जरा अर्थात् इच्छाके न होते हुए भी जिसके कर्मकी निर्जरा हुई है ऐसा जीव। तात्पर्य यह है कि अज्ञानसे भूख, प्यास, ठंडी, गरमीको सहन करना; स्त्रीकी अप्राप्तिसे शीलको धारण करना इत्यादिसे जो कर्मकी निर्जरा होती है, उसे 'अकामनिर्जरा' कहते हैं।

जो जीव शुभनामकर्मको बाँधते हैं, वे ये हैं:—

१. सरल अर्थात् माया-रहित मन-वाणी-शरीरका व्यापार जिसका एकसा हो ऐसा जीव शुभनामको बाँधता है। २. गौरव-रहित। तीन प्रकारका गौरव है:—ऋद्धि-गौरव, रस-गौरव और सात-गौरव। ऋद्धिका अर्थ है ऐश्वर्य—धनसम्पति, उससे अपनेको महत्त्वशाली समझना, यह ऋद्धिगौरव है। मधुरआम्ल आदि रसोंसे अपना गौरव समझना यह रसगौरव है। शरीरके आरोग्यका अभिमान रखना सातगौरव है। इन तीनों प्रकारके गौरवसे रहित जीव शुभनामकर्मको बाँधता है। इसी प्रकार पापसे डरने वाला, क्षमावान, मार्दव आदि गुणोंसे युक्त जीव शुभनामको बाँधता है।

जिन कृत्योंसे शुभनाम कर्मका बन्धन होता है उनसे विपरीत कृत्य करनेवाले जीव अशुभनामकर्मको बाँधते हैं जैसेकि—मायावी अर्थात् जिनके मन, वाणी और आचरणमें भेद हो; दूसरोंको ठगने वाले, झूठी गवाही देने वाले; घीमें चर्बी और दूधमें पानी मिला कर बेचने वाले; अपनी तारीफ और

दूसरोंकी निन्दा करनेवाले वेश्याओंको वस्त्र-अलंकार आदि देनेवाले; देव-द्रव्य, उपाश्रय और ज्ञानद्रव्य खाने वाले या उनका दुरुपयोग करनेवाले; ये जीव अशुभ नामको अर्थात् नरकगति-अयशः-कीर्ति-एकेन्द्रियजाति आदि कर्मों को बाँधते हैं।

गोत्रकर्मके बन्ध हेतुः—

गुणपेही मयरहिओ अज्झयणऽज्झावणारुई निच्चं ।
पकुणइ जिणाइभत्तो उच्चं नीयं इयरहा उ ॥ ६० ॥

( गुणपेही ) गुण-प्रेक्षी—गुणोंको देखनेवाला, (मयरहिओ) मद-रहित—जिसे अभिमान न हो, ( निच्चं ) नित्य ( अज्झयणऽज्झावणारुई ) अध्ययनाध्यापनरुचि—पढ़ने-पढ़ानेमें जिसकी रुचि है, ( जिणाइभत्तो ) जिन-भगवान् आदिका भक्त ऐसा जीव ( उच्चं ) उच्चगोत्रका ( पकुणइ ) उपार्जन करता है। ( इयरहा उ ) इतरथा तु—इससे विपरीत तो ( नीयं ) नीचगोत्र को बाँधता है ॥ ६० ॥

भावार्थ—उच्चैर्गोत्रकर्मके बाँधनेवाले जीव इस प्रकारके होते हैं:—

१. किसी व्यक्तिमें दोषोंके रहते हुए भी उनके विषयमें उदासीन, सिर्फ गुणोंको ही देखनेवाले। २. आठ प्रकारके मदोंसे रहित अर्थात् जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, श्रुतमद, ऐश्वर्यमद, लाभमद और तपोमद इनसे रहित। ३. हमेशः पढ़ने-पढ़ानेमें जिनका अनुराग हो, ऐसे जीव। ४. जिनेन्द्र भगवान्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, माता, पिता तथा गुणवानोंकी भक्ति करनेवाले जीव। ये उच्चगोत्रको बाँधते हैं।

जिन कृत्योंसे उच्चगोत्रका बन्धन होता है, उनसे उलटे काम

करनेवाले जीव नीचगोत्रको बाँधते हैं अर्थात् जिनमें गुण-दृष्टि न होकर दोष-दृष्टि हो; जाति कुल आदिका अभिमान करने वाले पढ़ने-पढ़ानेसे जिन्हें घृणा हो, तीर्थंकर-सिद्ध आदि महा-पुरुषोंमें जिनकी भक्ति न हो, ऐसे जीव नीचगोत्रको बाँधते हैं।

अन्तरायकर्मके बन्ध-हेतु तथा ग्रन्थ-समाप्तिः—

जिणपूयाविग्घकरो हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं ।
इय कम्मविवागोयं लिहिओ देविंदसूरिहिं ॥ ६१ ॥

( जिणपूयाविग्घकरो ) जिनेन्द्रकी पूजामें विघ्न करनेवाला तथा ( हिंसाइपरायणो ) हिंसा आदिमें तत्पर जीव ( विग्घं ) अन्तरायकर्मका ( जयइ ) उपार्जन करता है। ( इय ) इस प्रकार ( देविंदसूरिहिं ) श्रीदेवेन्द्रसूरिने ( कम्मविवागोयं ) इस कर्म-विपाक नामक ग्रन्थको ( लिहिओ ) लिखा ॥ ६१ ॥

भावार्थ—अन्तरायकर्मको बाँधनेवाले जीवः—जो जीव जिनेन्द्रकी पूजाका यह कहकर निषेध करते हैं कि जल, पुष्प, फलोंमें हिंसा होती है, अतएव पूजा न करना ही अच्छा है; तथा हिंसा, झूठ, चोरी, रात्रि-भोजन करनेवाले; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप मोक्षमार्गमें दोष दिखला कर भव्य-जीवोंको मार्गसे च्युत करनेवाले; दूसरोंके दान-लाभ-भोग उपभोगमें विघ्न करने वाले; मन्त्र आदिके द्वारा दूसरोंकी शक्तिको हरनेवाले, ये जीव अन्तराय कर्मको बाँधते हैं।

इस प्रकार श्रीदेवेन्द्रसूरिने इस कर्मविपाक-नामक कर्मग्रन्थ की रचनाकी, जो कि चान्द्रकुलके तपाचार्य श्रीजगच्चन्द्रसूरिके शिष्य हैं।

॥ इति कर्मविपाक-नामक पहला कर्मग्रन्थ ॥

# परिशिष्ट

श्वेताम्बर-दिगम्बरके कर्मविषयक मतभेदः—

प्रकृतिभेद—इसमें प्रकृति शब्दके दो अर्थ किये गये हैं:— स्वभाव और समुदाय। श्वेताम्बरी कर्म-साहित्यमें ये दोनों अर्थ पाये जाते हैं। यथा (लोकप्रकाश सर्ग १०, श्लोक १३७)—

प्रकृतिस्तु स्वभावः स्याद् ज्ञानावृत्यादि कर्मणाम्।
यथा ज्ञानाच्छादनादिः स्थितिः कालविनिश्चयः॥

तथा एक प्राचीन गाथाः—

ठिइबंधदलस्स ठिइ पएसबंधो पएसगहणं जं।
ताणरसो अणुभागो तस्समुदायो पगइबंधो॥ १॥

परन्तु दिगम्बरीय साहित्यमें 'प्रकृति' शब्दका केवल स्वभाव अर्थ ही उल्लिखित मिलता है। यथा (तत्त्वार्थ अ० ८ सू० ३ सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक)—

"प्रकृतिः स्वभावः"

"प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्"

"पयडी सीलसहावो"—कर्मकाण्ड, गाथा २

इसमें जानने योग्य बात यह है कि स्वभाव-अर्थ-पक्षमें तो अनुभागबन्धका मतलब कर्मकी फल-जनक शक्तिकी शुभाशुभता तथा तीव्रता-मन्दतासे ही है, परन्तु समुदाय-अर्थ-पक्ष में यह बात नहीं। उस पक्षमें अनुभागबन्धसे कर्मकी फल-जनक शक्ति और उसकी शुभाशुभता तथा तीव्रता-मन्दता इतना अर्थ विवक्षित है। क्योंकि उस पक्षमें कर्मका स्वभाव (शक्ति) अर्थ भी अनुभागबन्ध शब्दसे ही लिया जाता है।

कर्मके मूल ८ तथा उत्तर-१४८ भेदोंका जो कथन है, सो माध्यमिक विवक्षासे; क्योंकि वस्तुतः कर्मके असंख्यात प्रकार हैं। कारणभूत अध्यवसायोंमें असंख्यात प्रकारका तरतमभाव होनेसे तज्जन्य कर्मशक्तियाँ भी असंख्यात प्रकारकी ही होती हैं, परन्तु उन सबको वर्गीकरण, ८ या १४८ भागोंमें इसलिये किया है कि जिससे सर्वसाधारणको समझनेमें सुभीता हो, यही बात गोम्मटसार (कर्मकाण्ड गाथा ७) में भी कही है:—

तं पुण अट्ठविहं वा, अडदालसयं असंखलोगं वा।
ताणं पुण घादित्ति अघादित्ति य, होंति सण्णाओ॥

आठ कर्म प्रकृतियोंके कथनका जो क्रम है, उसकी उपपत्ति पंच संग्रहकी टीकामें, कर्मविपाककी टीकामें, श्री जयसोमसूरि-कृत टबेमें तथा श्री जीवविजयजी-कृत बालावबोधमें इस प्रकार दी हुई है:—उपयोग, यह जीवका लक्षण है। इसके ज्ञान और दर्शन दो भेद हैं। जिनमेंसे ज्ञान प्रधान माना जाता है। ज्ञानसे कर्म-विषयक शास्त्रका या किसी अन्य शास्त्रका विचार किया जा सकता है। जब कोई भी लब्धि प्राप्त होती है, तब जीव ज्ञानोपयोग-युक्त ही होता है। मोक्षकी प्राप्ति भी ज्ञानोपयोगके समयमें ही होती है। अतएव ज्ञानके आवरण-भूत कर्म ज्ञानावरणका कथन सबसे पहले किया है। दर्शनकी प्रवृत्ति, मुक्त जीवोंको ज्ञानके अनन्तर होती है; इसीसे दर्शनावरणीयकर्मका कथन पीछे किया है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों कर्मोंके तीव्र उदयसे दुःखका तथा उनके विशिष्ट क्षयोपशमसे सुखका अनुभव होता है; इसलिये वेदनीयकर्मका कथन, उक्त दो कर्मोंके बाद किया है। वेदनीयकर्मके अनन्तर मोहनीयकर्मके कहनेका आशय यह है कि सुख-दुःख वेदनेके समय अवश्य ही रागद्वेष-का उदय हो जाता है। मोहनीयके अनन्तर आयुका पाठ इसलिये

है कि मोह-व्याकुल जीव आरम्भ आदि करके आयुका बन्ध करता ही है। जिसको आयुका उदय हुआ उसे गति आदि नामकर्म भी भोगने पड़ते ही हैं, इस बातको जाननेके लिये आयु के पश्चात् नामकर्मका उल्लेख है। गति आदि नामकर्मके उदय-वाले जीवको उच्च या नीचगोत्रका विपाक भोगना पड़ता है, इसीसे नामके बाद गोत्रकर्म है। उच्च गोत्रवाले जीवोंको दानान्त-राय आदिका क्षयोपशम होता है और नीचगोत्र-विपाकी जीवोंको दानान्तराय आदिका उदय रहता है, इसी आशयको बतलाने के लिये गोत्रके पश्चात् अन्तरायका निर्देश किया है।

गोम्मटसारमें दी हुई उपपत्तिमें कुछ-कुछ भेद भी है। जैसे-अन्तरायकर्म, घाति होनेपर भी सबसे पीछे अर्थात् अघातिकर्म के पीछे कहनेका आशय इतना ही है कि वह कर्म घाति होनेपर भी अघाति कर्मों की तरह जीवके गुणका सर्वथा घात नहीं करता तथा उसका उदय, नाम आदि अघातिकर्मोंके निमित्तसे होता है। तथा वेदनीय अघाति होने पर भी उसका पाठ घाति-कर्मों के बीच इसलिये किया गया है कि वह घातिकर्मकी तरह मोहनीयके बलसे जीवके गुणका घातक है (क० गा० १८-१६)

अर्थावग्रहके नैश्चयिक और व्यावहारिक दो भेद शास्त्रमें पाये जाते हैं (तत्त्वार्थ-टीका पृ० ५७)। जिनमेंसे नैश्चयिक अर्थावग्रह, उसे समझना चाहिये जो व्यंजनावग्रहके बाद, पर ईहाके पहले होता है तथा जिसकी स्थिति एक समयकी है। व्यावहारिक अर्थावग्रह, अवाय (अपाय) को कहते हैं; पर सब अवायको नहीं, किन्तु जो अवाय ईहाको उत्पन्न करता है उसीको। किसी वस्तुका अव्यक्त ज्ञान (अर्थावग्रह) होनेके बाद उसके विशेष धर्मका निश्चय करनेके लिये ईहा (विचारणा या सम्भावना) होती है, अनन्तर उस धर्मका निश्चय होता है,

वही अवाय कहलाता है। एक धर्मका अवाय हो जानेपर फिर दूसरे धर्मके विषयमें ईहा होती है और पीछेसे उसका निश्चय भी हो जाता है। इस प्रकार जो जो अवाय, अन्य धर्म विषयक ईहाको पैदा करता है वह सब व्यावहारिक अर्थावग्रहमें परिगणित है। केवल उस अवायको अवग्रह नहीं कहते, जिसके अनन्तर ईहा उत्पन्न न होकर धारणा ही होती है।

अवायको अर्थावग्रह कहनेका सबब इतना ही है कि यद्यपि वह किसी विशेष धर्मका निश्चयात्मक ज्ञान है, तथापि उत्तरवर्ती अवायकी अपेक्षा पूर्ववर्ती अवाय, सामान्य-विषयक होता है। इसलिये वह सामान्य-विषयक ज्ञानस्वरूपसे नैश्चयिक अर्थावग्रहके तुल्य है। अतएव उसे व्यावहारिक अर्थावग्रह कहना असंगत नहीं।

यद्यपि जिस शब्दके अन्तमें विभक्ति आई हो उसे या जितने भागमें अर्थकी समाप्ति होती हो उसे 'पद' कहा है, तथापि पद-श्रुतमें पदका मतलब ऐसे पदसे नहीं है, किन्तु सांकेतिक पदसे है। आचाराङ्ग आदि आगमोंका प्रमाण ऐसे ही पदोंसे गिना जाता है (लोकप्रकाश सर्ग ३ श्लोक ८२७)। कितने श्लोकोंका यह सांकेतिक पद माना जाता है ? इस बातका पता तादृश सम्प्रदाय नष्ट होनेसे नहीं चलता, ऐसा टीकामें लिखा है; पर कहीं यह लिखा मिलता है कि प्रायः ५१,०८,८६,८४० श्लोकोंका एक पद होता है।

पदश्रुतमें 'पद' शब्दका सांकेतिक अर्थ दिगम्बर साहित्यमें भी लिया गया है। आचाराङ्ग आदिका प्रमाण ऐसे ही पदोंसे उसमें भी माना गया है, परन्तु उसमें विशेषता यह देखी जाती है कि श्वेताम्बर-साहित्यमें पदके प्रमाणके सम्बन्धमें सब आचार्य, आम्नायका विच्छेद दिखाते हैं, तब दिगम्बर-शास्त्रमें

पदका प्रमाण स्पष्ट लिखा पाया जाता है। गोम्मटसारमें १६३४ करोड़, ८३ लाख, ७ हजार ८८८ अक्षरोंका एक पद माना है। बत्तीस अक्षरोंका एक श्लोक माननेपर उतने अक्षरोंके ५१,०८, ८४, ६२१॥ श्लोक होते हैं। यथा (जीवकाण्ड गाथा ३३५)—

सोलससयचउतीसा कोडी तियसीदिलक्खयं चेव।
सत्तसहस्साट्ठसया अट्ठासीदी य पदवण्णा॥

इस प्रमाणमें ऊपर लिखे हुए उस प्रमाणसे बहुत फेर नहीं है, जो श्वेताम्बर-शास्त्रमें कहीं-कहीं पाया जाता है। इससे पदके प्रमाणके सम्बन्धमें श्वेताम्बर-दिगम्बर साहित्यकी एक-वाक्यता ही सिद्ध होती है।

मनःपर्यायज्ञानके ज्ञेय (विषय) के सम्बन्धमें दो प्रकारका उल्लेख पाया जाता है। पहलेमें यह लिखा है कि मनःपर्यायज्ञानी मनःपर्यायज्ञानसे दूसरोंके मनमें व्यवस्थित पदार्थ—चिन्त्यमान पदार्थको जानता है, परन्तु दूसरा उल्लेख यह कहता है कि मनःपर्यायज्ञानसे चिन्त्यमान वस्तुका ज्ञान नहीं होता, किन्तु विचार करनेके समय, मनकी जो आकृतियाँ होती हैं उन्हींका ज्ञान होता है और चिन्त्यमान वस्तुका ज्ञान पीछेसे अनुमान द्वारा होता है। पहला उल्लेख दिगम्बरीय साहित्यका है (सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ १२४, राजवार्तिक पृष्ठ ५८ और जीवकाण्ड-गाथा ४३७-४४७, और दूसरा उल्लेख श्वेताम्बरीय साहित्यका है (तत्त्वार्थ अ० १ सू० २४ टीका, आवश्यक गा० ७६ की टीका, विशेषावश्यकभाष्य पृ० ३६० गा० ८१३-८१४ और लोकप्रकाश सर्ग ३ श्लोक ८४६ से)।

अवधिज्ञान तथा मनःपर्यायज्ञानकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें गोम्मटसारका जो मन्तव्य है वह श्वेताम्बर-साहित्यमें कहीं देखनेमें नहीं आया। वह मन्तव्य इस प्रकार है:—

अवधिज्ञानकी उत्पत्ति आत्माके उन्हीं प्रदेशोंसे होती है, जो कि शंख आदि-शुभ-चिन्ह वाले अङ्गोंमें वर्तमान होते हैं, तथा मनःपर्यायज्ञानकी उत्पत्ति आत्माके उन प्रदेशोंसे होती है जिनका कि सम्बन्ध द्रव्यमनके साथ है अर्थात् द्रव्यमनका स्थान हृदय ही है, इसलिये हृदय-भागमें स्थित आत्माके प्रदेशों ही में मनःपर्यायज्ञानका क्षयोपशम है; परन्तु शंख आदि शुभ चिन्होंका सम्भव सभी अङ्गोंमें हो सकता, है इस कारण अवधि-ज्ञानके क्षयोपशमकी योग्यता, किसी खास अङ्गमें वर्तमान आत्मप्रदेशोंमें ही नहीं मानी जा सकती; यथा ( जी०गा०४४१ )

सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही ।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उपज्जदे णियमा ॥

द्रव्यमनके सम्बन्धमें भी जो कल्पना दिगम्बर-सम्प्रदायमें है, वह श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें नहीं। सो इस प्रकार है:—

द्रव्यमन, हृदयमें ही है। उसका आकार आठ पत्र वाले कमलका-सा है। यह मनोवर्गणाके स्कन्धोंसे बनता है। उसके बननेमें अंतरंग कारण अङ्गोपाङ्गनामकर्मका उदय है। यथा—

हिदि होदिहु दव्वमणं वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा ।
अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा ॥ (जी० गा० ४४२)

इस ग्रन्थकी १२वीं गाथामें स्त्यानगृद्धिनिद्राका स्वरूप कहा गया है। उसमें जो यह कहा है, कि "स्त्यानगृद्धिनिद्राके समय, वासुदेव जितना बल प्रगट होता है, सो वज्रऋषभना-राचसंहननकी अपेक्षासे जानना। अन्य संहनन वालोंको उस निद्रा के समय, वर्तमान युवकों के बल से आठ गुना बल होता है"

होता है"—यह अभिप्राय कर्मग्रन्थ-वृत्ति आदिका है। जीवकल्प-वृत्तिमें तो इतना और भी विशेष है कि "वह निद्रा, प्रथमसंहननके सिवाय अन्य संहनन वालोंको होती ही नहीं और जिसको होनेका सम्भव है वह भी उस निद्राके अभावमें अन्य मनुष्योंसे तीन चार गुना अधिक बल रखता" (लोक० स० १०, श्लो० १५०)

मिथ्यात्वमोहनीयके तीन पुंजोंकी समानता छाछसे शोधे हुये शुद्ध, अशुद्ध और अर्धविशुद्ध कोदोंके साथ; की गई है। परन्तु गोम्मटसारमें इन तीन पुंजोंको समझानेके लिये चक्कीसे पीसे हुए कोदोंका दृष्टान्त दिया गया है। उसमें चक्कीसे पीसे हुये कोदोंके भूसेके साथ अशुद्ध पुंजकी, तन्दुलेके साथ शुद्ध पुंजोंकी और कणके साथ अर्धविशुद्ध पुंजकी बराबरी की गई है। प्राथमिक उपशमसम्यक्त्व-परिणाम (ग्रन्थिभेद-जन्य सम्यक्त्व) जिससे मोहनीयके दलिक शुद्ध होते हैं उसे चक्की-स्थानीय माना है। ( कर्मकाण्ड गाथा २६ )

कषायके ४ विभाग किये हैं; सो उसके रसकी ( शक्तिकी ) तीव्रता-मन्दताके आधारपर। सबसे अधिक-रसवाले कषायको अनन्तानुबन्धी, उससे कुछ कम-रसवाले कषायको अप्रत्यख्याना-वरण, उससे भी मन्दरसवाले कषायको प्रत्याख्यानावरण और सबसे मन्दरसवाले कषायको संज्वलन कहते हैं।

इस ग्रन्थकी गाथा १८ वींमें उक्त ४ कषायोंका जो काल-मान कहा गया है; वह उनकी वासनाका समझना चाहिये। वासना, असर ( संस्कार ) को कहते हैं। जीवन-पर्यन्त स्थिति वाले अनन्तानुबन्धीका मतलब यह है कि वह कषाय इतना तीव्र होता है कि जिसका असर जिन्दगी तक बना रहता है। अप्रत्याख्यानावरणकषायका असर वर्ष-पर्यन्त माना गया है। इस प्रकार अन्य कषायोंकी स्थितिके प्रमाणको भी उनके असर

की स्थितिका प्रमाण समझना चाहिये। यद्यपि गोम्मटसारमें बतलाई हुई स्थिति, कर्मग्रन्थवर्णित स्थितिसे कुछ भिन्न है तथापि उसमें (कर्मकाण्ड-गाथा ४६ में) 'कषायके स्थिति-कालको वासनाकाल स्पष्टरूपसे कहा है। यह ठीक भी जान पड़ता है। क्योंकि एकबार कषाय हुआ कि पीछे उसका असर थोड़ा बहुत रहता ही है। इसलिए उस असरकी स्थिति को ही कषायकी स्थिति कहनेमें कोई विरोध नहीं है।

कर्मग्रन्थमें और गोम्मटसारमें कषायोंको जिन जिन पदार्थों की उपमा दी है, वे सब एक ही हैं। भेद केवल इतना ही है कि प्रत्याख्यानावरण लोभको गोम्मटसारमें शरीरके मलकी उपमा दी है और कर्मग्रन्थमें खंजन (कज्जल) की। [जीव० गा० २८६]

पृष्ठ ५० में अपवर्त्य आयुका स्वरूप दिखाया है। इसके वर्णनमें जिस मरणको 'अकालमरण' कहा है, उसे गोम्मटसारमें 'कदलीघातमरण' कहा है। यह 'कदलीघात' शब्द अकाल मृत्यु अर्थमें अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। [कर्मकाण्ड, गाथा ५७]

संहनन शब्दका अस्थिनिचय (हड्डियोंकी रचना) जो अर्थ किया गया है, सो कर्मग्रन्थके मतानुसार। सिद्धान्तके मतानुसार संहननका अर्थ शक्ति-विशेष है। यथा प्राचीन चृ०-क० टीका—

"सुत्ते सत्तिविसेसो संघयणमिहट्ठिनिचउत्ति"—पृष्ठ ९९।

कर्मविषयक साहित्यकी कुछ ऐसी संज्ञाएँ आगे दी जाती हैं कि जिनके अर्थमें श्वेताम्बर-दिगम्बर-साहित्यमें थोड़ा-बहुत भेद दृष्टिगोचर होता है:—

| श्वेताम्बर | दिगम्बर |
| --- | --- |
| प्रचलाप्रचलानिद्रा, वह है जो मनुष्यको चलते-फिरते भी आती है। | प्रचलाप्रचलाका उदय, जिस आत्माको होता है उसके मुँहसे लार टपकती है तथा |

| श्वेताम्बर | दिगम्बर |
| --- | --- |
| | उसके हाथ-पाँव आदि अंग काँपते हैं। |
| निद्रा, उस निद्राको कहते हैं जिसमें सोता हुआ मनुष्य अनायास उठाया जा सके। | निद्रा—इसके उदयसे जीव चलते चलते खड़ा रह जाता है और गिर भी जाता है।⊛ |
| प्रचला, वह निद्रा है जो खड़े हुए या बैठे हुए प्राणी को भी आती है। | प्रचलाके उदयसे प्राणी नेत्रको थोड़ा मूँद कर सोता है, सोता हुआ भी थोड़ा ज्ञान करता रहता है और बारबार मन्द निद्रा लिया करता है।× |
| गतिनामकर्मसे मनुष्य नारक-आदि पर्यायकी प्राप्ति मात्र होती है। | गतिनामकर्म, उस कर्म प्रकृतिको कहा है जिसके उदय से आत्मा भवान्तरको जाता है। |
| निर्माणनामकर्मका कार्य अङ्गोपाङ्गोंको अपने-अपने स्थानमें व्यवस्थित करना इतना ही माना गया है। | निर्माणनामकर्मके स्थान-निर्माण और प्रमाण-निर्माण, ये दो भेद मानकर इनका कार्य अंगोपांगोंको यथास्थान व्यवस्थित करना और प्रमाणोपेत बनाना है। |
| आनुपूर्वीनामकर्म, सम-श्रेणिसे गमन करते हुए जीव को खींच कर, उसे उसके | आनुपूर्वीनामकर्मका प्रयोजन पूर्व शरीर छोड़नेके बाद और नया शरीर धारण करने |

⊛ कर्मकाण्ड गाथा २४। × कर्मकाण्ड गाथ २५।

विश्रेणिपतित उत्पत्ति-स्थान को पहुँचाता है।

उपघातनामकर्मके मतभेद से दो कार्य हैं। १ यह कि गलेमें फाँसी लगाकर या कहीं ऊँचे से गिरकर अपने ही आप आत्म-हत्या की चेष्टा द्वारा दुःखी होना; २ पड़जीभ, रसौली, छठी उँगली, बाहर निकले हुए दाँत आदि से तकलीफ पाना।+

शुभनामकर्मसे नाभिके ऊपरके अवयव शुभ होते हैं।

अशुभनामकर्मके उदय से नाभिके ऊपरके अवयव अशुभ होते हैं।

स्थिरनामकर्मके उदयसे सिर, हड्डी, दाँत आदि अवयवोंमें स्थिरता आती है।

अस्थिरनामकर्मसे सिर, हड्डी, दाँत आदि अवयवोंमें अस्थिरता आती है।

के पहले—अन्तराल गतिमें जीवका आकार पूर्व शरीरके समान बनाये रखना है।

उपघात नामकर्म—इसके उदयसे प्राणी, फांसी आदिसे अपनी हत्या कर लेता और दुःख पाता है।

शुभनाम-यह कर्म, रमणीयताका कारण है।

अशुभनामकर्म, उसका उदय कुरूपका कारण है।

स्थिरनामकर्मके उदयमें शरीर तथा धातु-उपधातुमें स्थिरभाव रहता है जिससे कि उपसर्ग-तपस्या आदि अन्य कष्ट सहन किया जा सकता है।

अस्थिरनामकर्मसे अस्थिर भाव पैदा होता है जिससे थोड़ा भी कष्ट नहीं सहा जाता

+ श्री यशोविजयजी-कृत कम्मपयडी व्याख्या पृष्ठ ५।

| | |
|---|---|
| जो कुछ कहा जाय उसे लोग प्रमाण समझ कर मान लेते और सत्कार आदि करते हैं, यह आदेयनामकर्मका फल है। अनादेयकर्मका कार्य उससे उलटा है अर्थात् हित-कारी वचनको भी लोग प्रमाण-रूप नहीं मानते और न सत्कार आदि ही करते हैं। | आदेयनामकर्म, इसके उदय से शरीर, प्रभा-युक्त बनता है। इसके विपरीत अनादेयनाम-कर्मसे शरीर प्रभा-हीन होता है। |
| दान-तप-शौर्य-आदि-जन्य यशसे जो प्रशंसा होती है उसका कारण यशःकीर्तिनाम-कर्म है। अथवा एक दिशामें फैलनेवाली ख्यातिको कीर्ति और सब दिशाओंमें फैलने वाली ख्यातिको यशः कहते हैं। इसी तरह दान-पुण्य-आदि से होनेवाली महत्ताको यशः कहते हैं। कीर्ति और यशःका सम्पादन यशःकीर्तिनामकर्मसे होता है। | यशःकीर्तिनामकर्म, यह पुण्य और गुणोंके कीर्तनका कारण है। |

कुछ संज्ञाएँ ऐसी भी हैं जिनके स्वरूपमें दोनों सम्प्रदायोंमें किंचित् परिवर्तन हो गया है:—

| | |
|---|---|
| सादि, साचिसंहनन। | स्वातिसंहनन। |
| ऋषभनाराच। | वज्रनाराचसंहनन। |
| कीलिका। | कीलित |
| सेवार्त। | असंप्राप्तासृपाटिका। |

# कोष

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
| --- | --- | --- | --- |
| ३४ | अंग | अङ्ग | शरीरका अवयव पृ० ६५ |
| ४७ | अंग | अङ्ग | शरीर |
| ६ | अंगपविट्ठ | अङ्गप्रविष्ट | 'अङ्ग' नामके आचाराङ्ग आदि १२ • आगम |
| ३४ | अंगुली | अङ्गुली | उँगली |
| ३४ | अंगोवंग | अङ्गोपाङ्ग | रेखा, पर्व आदि |
| ४८ | अंगोवंग | अङ्गोपाङ्ग | अङ्ग तथा उपाङ्ग |
| १६ | अंतमुहु | अन्तर्मुहूर्त | ६ समयसे लेकर एक समय कम दो घड़ी प्रमाण काल |
| ५२ | अंतराय | अन्तराय | रुकावट |
| ४१ | अंबिल | अम्ल | आम्लरस नाम कर्म पृ० ७१ |
| ५६ | अकामनिज्जर | अकामनिर्जर | बिना इच्छाके कष्ट सहकर कर्मकी निर्जरा करनेवाला |
| ७,६ | अक्खर | अक्षर | अक्षरश्रुत पृ० १६-२० |
| ५६ | अगारविल्ल | अगौरववत् | निरभिमान पृ० १०४ |
| ४७,२५ | अगुरुलहु | अगुरुलघु | अगुरुलघु नाम कर्म पृ० ८१ |
| २६ | अगुरुलहुचउ | अगुरुलघु चतुष्क | अगुरुलघु आदि ४ प्रकृतियाँ पृ० ५८ |
| १० | अचक्खु | अचक्षुस् | अचक्षुर्दर्शन पृ० ३८ |

• यथाः—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातधर्मकथा, उपासकाध्ययन दशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद।

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५४ | अच्चासायणया | अत्याशातना | अवहेलना |
| २७ | अजस | अयशस् | अयशःकीर्तिनाम पृ० ८६ |
| १५ | अजिय | अजीव | अजीव-तत्व पृ० ३८ |
| ५५ | अज्जइ | अर्ज-अर्जयति | अर्जन करता है |
| ६० | अज्झयण | अध्ययन | पढ़ना |
| ६० | अज्झावणा | अध्यापना | पढ़ाना |
| ४१,३०,२५,२ | अट्ठ | अष्टन् | आठ |
| ५ | अठवीस | अष्टाविंशति | अट्ठाईस |
| ५०,१८ | अठि | अस्थि | हड्डी |
| १६ | अठिय | अस्थिक | ,, |
| ३२ | अट्ठवन्न | अष्टपञ्चाशत | अट्ठावन |
| ३१ | अडवीस | अष्टाविंशति | अट्ठाईस |
| २ | अडवन्नसय | अष्टपञ्चाशच्छत | एक सौ अट्ठावन |
| १७ | अण | अन | अनन्तानुबन्धी पृ० ४२ |
| २७ | अणाइज्ज | अनादेय | अनादेयनाम पृ० ८६ |
| १८ | अणु | अणु | देश—अल्प |
| ७ | अणुओग | अनुयोग | श्रुतज्ञान-विशेष पृ २० |
| ८ | अणुगामि | अनुगामिन् | अवधिज्ञान-विशेष पृ २२ |
| ४३,२४ | अणुपुव्वी | आनुपूर्वी | आनुपूर्वीनाम कर्म पृ० ५३—७७ |
| ४६ | अणुसिण | अनुष्ण | अनुष्ण |
| ५ | अत्थुग्गह | अर्थावग्रह | मतिज्ञान-विशेष पृ० १२ |
| २७ | अथिर | अस्थिर | अस्थिर नाम कर्म पृ ८८ |
| २८ | अथिरछक्क | अस्थिरषट्क | अस्थिर आदि ६ प्रकृतियाँ पृ० ५७ |
| १२ | अद्ध | अर्ध | आधा |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३८ | अद्धनाराय | अर्धनाराच | चौथा संहनन पृ० ७१ |
| १२ | अद्धचक्कि | अर्धचक्रिन् | वासुदेव |
| १४ | अद्धविसुद्ध | अर्धविशुद्ध | आधा शुद्ध |
| १६ | अन्न | अज्ञ | अनोज्ञ |
| २६ | अन्न | अन्य | दूसरा |
| ५६,२१ | अन्नहा | अन्यथा | अन्य प्रकारसे |
| १७ | अपच्चक्खाण | अप्रत्याख्यान | अप्रत्याख्यानावरण पृष्ठ ४२ |
| २७ | अपज्ज | अपर्याप्त | अपर्याप्तिनामकर्म, ८८ |
| १८ | अमर | अमर | देव |
| २१ | अरइ | अरति | अरतिमोहनीय पृ० १८ |
| ४८ | अवयव | अवयव | शरीरका एक देश |
| २० | अवलेहि | अवलेखिका | बाँसका छिलका |
| ५ | अवाय | अपाय | मतिज्ञान-विशेष पृ० १३ |
| २६ | अवि | अपि | भी |
| ५६ | अविरय | अविरत | अविरतसम्यग्दृष्टि |
| १४ | अविसुद्ध | अविशुद्ध | अशुद्ध |
| ५५,१३ | असाय | असात | असातवेदनीय पृ० ३२ |
| २७ | असुभ | अशुभ | अशुभनामकर्म पृ० ८६ |
| ४३ | असुह | अशुभ | अप्रशस्त |
| ५६ | असुह | अशुभ | अशुभनामकर्म पृ० ८६ |
| ४२ | असुहनवग | अशुभनवक | नीलवर्ण आदि ६ अशुभ प्रकृ० पृ० ५६ |
| १८ | अहक्खाय चरित्त | यथाख्यात चारित्र | परिपूर्ण-निर्विकार संयम |
| २२ | अहिलास | अभिलाष | चाह |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३५,२६,२८ २१,१५,५२ ५०,५८,४६ ३६,६१,६० ४६,५७,५३ | आइ | आदि | वगैरह |
| ५१,२६ | आइज्ज | आदेय | आदेयनामकर्म पृ० ८७ |
| ४३,२६,३ | आउ | आयुस् | आयुकर्म पृ० ६ |
| ४५,२५ | आयव | आतप | आतपनामकर्म पृ० ७६ |
| ६३ | आवरण | आवरण | आच्छादन |
| ५४ | आवरणदुग | आवरणद्विक | ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्म |
| १५ | आसव | आस्रव | आस्रव तत्त्व पृ० ६८ |
| ३३ | आहारग | आहारक | आहारकशरीरनाम पृ० ६२ |
| ३७ | आहारय | आहारक | आहारकशरीर |
| ३३ | इन्दि | इन्द्रिय | इन्द्रिय |
| १७ | इन्दिय | " | इन्द्रिय |
| ४ | इन्दियचउक्क | इन्द्रियचतुष्क | स्पर्श, रसन, घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ |
| ५२ | इक्कारसग | एकादशन् | ग्यारह |
| ३३,८ | इग | एक | एक |
| २६ | इच्चाइ | इत्यादि | इत्यादि |
| ५० | इट्ठ | इष्ट | प्रिय |
| २२ | इत्थी | स्त्री | स्त्री |
| ६१ ३६,२६ ६ | इ | अयं / इमं / एसिं | अयं / इदम् / एषां | यह / यह / इनका |

| | | | |
|---|---|---|---|
| २६,२७ २५,५,६१ ३२,३० | इय | इति | इस प्रकार |
| ३७,८ | इयर | इतर | अन्य |
| ६० | इयरहा | इतरथा | अन्य प्रकार से |
| ५२,३६ | इव | इव | तरह |
| ४६,३६,२१,३ | इह | इह | इस जगह |
| ५ | ईहा | ईहा | मतिज्ञान-विशेष पृ० १२ |
| ६०,४५, ३०,२२ | उ | तु | तो, फिर, ही, किन्तु |
| ३०,५२ | उच्च | उच्च | ऊँचा, उच्चगोत्र |
| ४६,२५ | उज्जोय | उद्योत | उद्योत नाम कर्म पृ० ८० |
| ४६ | उज्जोयए | उद्+द्युत् उद्योतयते | उद्योत करता है |
| ४३ | उट्ट | उष्ट्र | ऊँट |
| ४१ | उण्ह | उष्ण | उष्णस्पर्शनामकर्म पृ० ७५ |
| ३ | उत्तर-पगइ | उत्तर-प्रकृति | अवान्तर प्रकृति |
| ३० | उत्तर-भेय | उत्तर-भेद | अवान्तर भेद |
| ४६ | उत्तरविउव्व | उत्तरवैक्रिय | उत्तर वैक्रिय शरीर |
| ५७,४३,३२ २२,४५,५० | उदय | उदय | विपाक—फलानुभव |
| ४७,४४ | उदय | उदय | विपाक—फलानुभव |
| ११ | उपविट्ठ | उपविष्ट | बैठा हुआ |
| ३६ | उभओ | | दोनों |
| २२ | उभय | | दो |
| ५१ | उम्माग | | [illegible] |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३४ | उयर | उदर | पेट |
| ३४ | उर | उरस | छाती |
| ३६,३५ | उरल | औदार | औदारिक—स्थूल |
| ३६ | उरालंग | औदाराङ्ग | औदारिकशरीर पृ. ६३,७१ |
| २४ | उवंग | उपाङ्ग | अङ्गोपाङ्गनामकर्म पृ. ५२ |
| ३४ | उवंग | उपाङ्ग | अंगुली आदि उपांग पृ.६५ |
| ४८,२५ | उवघाय | उपघात | उपघातनामकर्म पृ० ८२ |
| ५५ | उवघाय | उपघात | घात—नाश |
| ५२ | उवभोग | उपभोग | बारबार भोगना |
| १६ | उवमा | उपमा | समानता |
| ५० | उवरि | उपरि | ऊपर |
| ४८ | उवहम्मइ | उप × हन्<br>उपहन्यते | उपघात पाता है |
| २५ | उस्सास | उच्छ्वास | उच्छ्वासनामकर्म |
| ५५ | उसिणफास | उष्णस्पर्श | उष्णस्पर्शनामकर्म पृ७६ |
| ३४ | ऊरु | ऊरु | जँघा |
| ४४ | ऊससणलद्धि | उच्छ्व-<br>सनलब्धि | श्वासोच्छ्वासकी<br>शक्ति; पृष्ठ ७८ |
| ४४ | ऊसासनाम | उच्छ्वा-<br>सनामन् | उच्छ्वासनामकर्म पृ० ७६ |
| ६ } ए | एए | एते | ये |
| ५३ } | एयं | एतद् | यह |
| ३ | एवं | एवं | इस प्रकार |
| ३३ | ओराल | औदार | औदारिकशरीरनाम, पृ०.६३ |
| ३७ | ओराल | औदार | औदारिकशरीर |
| १३ | ओसन्नं | प्रायः | बहुत कर |

| | | | |
|---|---|---|---|
| २६,२७, २५,५,६१, १२,३० | इय | इति | इस प्रकार |
| ३७,८ | इयर | इतर | अन्य |
| ६० | इयरहा | इतरथा | अन्य प्रकार से |
| ५२,३६ | इव | इव | तरह |
| ४६,३६,२१,२ | इह | इह | इस जगह |
| ५ | ईहा | ईहा | मतिज्ञान-विशेष पृ० १२ |
| ६०,४५, ३०,२२ | उ | तु | तो, फिर, ही, किन्तु |
| ३०,५२ | उच्च | उच्च | ऊँचा, उच्चगोत्र |
| ४६,२५ | उज्जोय | उद्योत | उद्योत नाम कर्म पृ० ८० |
| ४६ | उज्जोयए | उद्+द्युत् उद्योतते | उद्योत करता है |
| ४३ | उट्ट | उष्ट्र | ऊँट |
| ४१ | उण्ह | उष्ण | उष्णस्पर्शनामकर्म पृ० ५५ |
| २ | उत्तर-पगइ | उत्तर-प्रकृति | अवान्तर प्रकृति |
| ३० | उत्तर-भेय | उत्तर-भेद | अवान्तर भेद |
| ४६ | उत्तरविउव्व | उत्तरवैक्रिय | उत्तर वैक्रिय शरीर |
| ४७,४३,३२, २२,४५,५० | उदअ | उदय | विपाक—फलानुभव |
| ४७,४४ | उदय | उदय | विपाक—फलानुभव |
| ११ | उवविट्ठ | उपविष्ट | बैठा हुआ |
| ३६ | उभओ | उभयतः | दोनों तरफ |
| २२ | उभय | उभय | दो |
| ५१ | उम्मग्ग | उन्मार्ग | शास्त्र-विरुद्ध—स्वच्छन्द |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३४ | उयर | उदर | पेट |
| ३४ | उर | उरस | छाती |
| ३६,३५ | उरल | औदार | औदारिक—स्थूल. |
| ३६ | उरालंग | औदाराङ्ग | औदारिकशरीर पृ. ६३,७१ |
| २४ | उवंग | उपाङ्ग | अङ्गोपाङ्गनामकर्म पृ. ५२ |
| ३४ | उवंग | उपाङ्ग | अंगुली आदि उपांग पृ ३५ |
| ४८,२५ | उवघाय | उपघात | उपघातनामकर्म पृ० ८२ |
| ५५ | उवघाय | उपघात | घात—नाश |
| ५२ | उवभोग | उपभोग | बारबार भोगना |
| १६ | उवमा | उपमा | समानता |
| ५० | उवरि | उपरि | ऊपर |
| ४८ | उवहम्मइ | उप × हन्<br>उपहन्यते | उपघात पाता है |
| २५ | उस्सास | उच्छ्वास | उच्छ्वासनामकर्म |
| ५५ | उसिणफास | उष्णस्पर्श | उष्णस्पर्शनामकर्म पृ७६ |
| ३४ | ऊरु | ऊरु | जँघा |
| ४४ | ऊससणलद्धि | उच्छ्वसनलब्धि | श्वासोच्छ्वासकी शक्ति; पृष्ठ ७८ |
| ४४ | ऊसासनाम | उच्छ्वासनामन् | उच्छ्वासनामकर्म पृ० ७६ |
| ६ } ५३ } ए | एए<br>एयं | एते<br>एतद् | ये<br>यह |
| ३ | एवं | एवं | इस प्रकार |
| ३३ | ओराल | औदार | औदारिकशरीरनाम, पृ०.६३ |
| ३७ | ओराले | औदार | औदारिकशरीर |
| १३ | ओसन्नं | प्रायः | बहुत करके |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८,४ | ओहि | अवधि | अवधिज्ञान, पृ० ११ |
| १० | ओहि | अवधि | अवधिदर्शन, पृ० २८ |
| १६ | कट्ठ | काष्ठ | लकड़ा |
| ४१ | कडु | कटुक | कटुकरसनामकर्म पृ० ७४ |
| ४२ | कडुय | कटुक | ,, |
| १ | कम्म | कर्मन् | कर्म पृ० २ |
| ३३ | कम्मण | कार्मण | कार्मणशरीर |
| ६१,१ | कम्मविवाग | कर्मविपाक | 'कर्मविपाक' नामक ग्रन्थ |
| ३०,१४ | कमसो | क्रमशः | क्रमसे |
| ५ | करण | करण | इन्द्रिय |
| ४६ | करण | करण | करण-शरीर, इन्द्रिय आदि |
| १२ | करणी | करणी | करने वाली |
| ५५ | करुणा | करुणा | दया |
| ५७,५५,१७ | कसाय | कषाय | कषायमोहनीयकर्म पृ० ४१ |
| ४१ | कसाय | कषाय | कषायरसनामकर्म पृ० ७४ |
| ४२ | कसिण | कृष्ण | कृष्णवर्णनामकर्म पृ० ७१ |
| ४० | किण्ह | कृष्ण | ,, |
| २० | किमिराग | कृमिराग | किरमिजी रंग |
| १ | कीरइ | क्रियते | किया जाता है |
| ३६ | कीलिया | कीलिका | कीलिकासंहनननाम पृ० ७१ |
| ३६ | कीलिया | कीलिका | खीला |
| २१ | कुच्छा | कुत्सा | घृणा |
| ५२ | कुलाल | कुलाल | कुम्हार |
| ५३,५८,५५ | कुणइ (इ) | करोति | करता है |
| ८,४ | केवल | केवल | केवलज्ञान, पृ० ११ |
| १० | केवल | केवल | केवलदर्शन, पृ० २८ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४७ | केवलि | केवलिन् | केवलज्ञानी |
| १६ | कोह | क्रोध | क्रोधकषाय |
| १५ | खइग | क्षायिक | क्षायिक |
| २० | खंजण | खञ्जन | पहियेका कीचड़ |
| ५५ | खंति | क्षान्ति | क्षमा |
| १२ | खग्ग | खड्ग | तलवार |
| ४२,४१ | खर | खर | खरस्पर्शनामकर्म, पृ० ७५ |
| ४६ | खज्जोय | खद्योत | जुगनू |
| ६ | खलु | खलु | निश्चय |
| ४० | खुज्ज | कुब्ज | कुब्जसंस्थान, पृ० ७३ |
| ४३,३३,२४ | गइ | गति | गतिनामकर्म, पृ० ५२ |
| ३० | गइयाइ | गत्यादि | गति आदि नामकर्म |
| ३६ | गण | गण | समूह—ढेर |
| २४ | गंध | गन्ध | गन्धनामकर्म |
| ६ | गमिय | गमिक | गमिक श्रुत पृ० १७ |
| ३१ | गह | ग्रह | ग्रहण |
| ६० | गुणपेह | गुणप्रेक्षिन् | गुणदर्शी |
| ४२,४१ | गुरु | गुरु | गुरुस्पर्शनामकर्म, पृ० ७५ |
| ४७ | गुरु | गुरु | भारी |
| ५५ | गुरुभक्ति | गुरुभक्ति | गुरु-सेवा |
| ५८ | गूढहियअ | गूढ हृदय | कपटी हृदय वाला |
| २० | गोमुत्ति | गोमूत्रिका | गायके मूत्रकी लकीर |
| ५२,३ | गोय | गोत्र | गोत्रकर्म, पृ० ६ |
| २० | घण | घन | घना—दृढ |
| १८ | घायकर | घातकर | नाशकारक |
| ४२,३७,२६ | च | च | और |
| २३ | | | |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३४६,३३,३० | चउ | चतुः | चार |
| २५ | चउदस | चतुर्दशन् | चौदह |
| ५ | चउदसहा | चतुर्दशधा | चौदह प्रकारका |
| १८ | चउमास | चतुर्मास | चार महीने |
| १९ | चउव्विह | चतुर्विध | चार प्रकारका |
| ४३,४२ | चउहा | चतुर्धा | ,, |
| १२ | चिंतियत्थ | चिन्तितार्थ | सोचा हुआ काम |
| १२ | चंकमओ | चङ्क्रमतः | चलने-फिरने वालोंको |
| ६ | चक्खु | चक्षुस् | आँख |
| १० | चक्खु | चक्षुस् | चक्षुर्दर्शन, पृ० २८ |
| १३ | चरण | चरण | चारित्र, पृ० ३३ |
| ५७ | चरणमोह | चरणमोह | चारित्रमोहनीयकर्म, पृ० ३ |
| १७ | चरित्त, मोहणिय, | चारित्र मोहनीय, | चारित्रमोहनीयकर्म |
| २३ | चित्ति | चित्रिन् | चितेरा-चित्रकार |
| ५६ | चेइय | चैत्य | मन्दिर, प्रतिमा |
| ३० | छ | षष् | छह |
| २६ | छक्क | षट्क | छहका समूह |
| ३० | छक्क | ,, | छह |
| ३८ | छद्धा | षड्धा | छह प्रकारका |
| ८५ | छद्धा | षट्का | |
| ३१ | छेवट्ट | सेवार्त | सेवार्तसंहनन, पृ० [illegible] |
| ४६ | जइ | यति | साधु |
| ३५ | जउ | जतु | लाख |
| ५० | जण | जन | लोक |
| ४७ | (जण) जायइ | जायते | होता है |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ६१,२६,५४ | जयइ | जि-जयति | बांधता है |
| १६ | जल | जल | पानी |
| ४५ | जलण | ज्वलन | अग्नि—आग |
| २२ | जव्वस | यद्वश | जिसके वश- |
| ५१,२६ | जस | यशस् | यशःकीर्तिनाम, पृ० ८७ |
| ५१ | जसकित्ती | यशःकीर्ति | बड़ाई |
| ५३,१६ | जहा | यथा | जिस प्रकार |
| ३३,२४ | जाइ | जाति | जातिनामकर्म, पृ० ५२ |
| १८ | जाजीव | यावज्जीव | जीवन पर्यन्त |
| ५४,२१,१ | जिअ | जीव | आत्मा |
| ६१,६०,५६ | जिण | जिन | वीतराग |
| १६ | जिणधम्म | जिनधर्म | जैनधर्म |
| १५ | जिय | जीव | जीव-तत्त्व, ४२ |
| ४६,४५ | जियंग | जीवाङ्ग | जीवका शरीर |
| ४८ | जीय | जीव | जीव, पृ० ४२ |
| ५३,४७ | जीव | जीव | आत्मा |
| ५५ | जुअ | युत | सहित |
| ४४,२७ | जुत्त | युक्त | „ |
| ४५,४३,३१ | जुय | युत | „ |
| ४६ | जोइस | ज्योतिष | चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतिष-मण्डल |
| ५५ | जोग | योग | संयम, पृष्ठ ११५ |
| ५१ | झुणि | ध्वनि | आवाज़ |
| ११ | ठिअ | स्थित | खड़ा |
| २ | ठिइ | स्थिति | स्थितिबन्ध, पृ० ५ |
| ३६,२२ | तण | तृण | घास |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३४६,३३,३० | चउ | चतुः | चार |
| २४ | चउदस | चतुर्दशन् | चौदह |
| ४ | चउदसहा | चतुर्दशधा | चौदह प्रकारका |
| १८ | चउमास | चतुर्मास | चार महीने |
| १६ | चउव्विह | चतुर्विध | चार प्रकारका |
| ४३,४२ | चउहा | चतुर्धा | |
| १२ | चिंतियत्थ | चिन्तितार्थ | सोचा हुआ काम |
| १२ | चंकमओ | चङ्क्रमतः | चलने-फिरने वालोंको |
| ६ | चक्खु | चक्षुस् | आँख |
| १० | चक्खु | चक्षुस् | चक्षुर्दर्शन, पृ० २८ |
| १३ | चरण | चरण | चारित्र, पृ० ३३ |
| ५७ | चरणमोह | चरणमोह | चारित्रमोहनीयकर्म, पृ० ३ |
| १७ | चरित्त | चारित्र | चारित्रमोहनीयकर्म |
| | मोहणिय | मोहनीय | |
| २३ | चित्ति | चित्रिन् | चितेरा-चित्रकार |
| ५६ | चेइय | चैत्य | मन्दिर, प्रतिमा |
| ३० | छ | षष् | छह |
| २६ | छक्क | षट्क | छहका समूह |
| ४० | छक्क | | छह |
| ३८ | छद्धा | षड्धा | छह प्रकारका |
| ८४ | छद्धा | षड्धा | |
| ३६ | छेवट्ठ | सेवार्त | सेवार्तसंहनन, पृ० ७१ |
| ४६ | जइ | यति | साधु |
| ३५ | जउ | जतु | लाख |
| ४० | जण | जन | लोक |
| ४७ | (जन्) जायइ | जायते | होता है |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ६१,५६,५४ | जयइ | जि-जयति | बांधता है |
| १६ | जल | जल | पानी |
| ४५ | जलण | ज्वलन | अग्नि—आग |
| २२ | जव्वस | यद्वश | जिसके वश |
| ५१,२६ | जस | यशस् | यशःकीर्तिनाम, पृ० ८७ |
| ५१ | जसकित्ती | यशःकीर्ति | बड़ाई |
| ५३,१६ | जहा | यथा | जिस प्रकार |
| ३३,२४ | जाइ | जाति | जातिनामकर्म, पृ० ५२ |
| १८ | जाजीव | यावज्जीव | जीवन पर्यन्त |
| ५४,२१,१ | जिअ | जीव | आत्मा |
| ६१,६०,५६ | जिण | जिन | वीतराग |
| १६ | जिणधम्म | जिनधर्म | जैनधर्म |
| १५ | जिय | जीव | जीव-तत्त्व, ४२ |
| ४६,४५ | जियंग | जीवाङ्ग | जीवका शरीर |
| ४८ | जीय | जीव | जीव, पृ० ४२ |
| ५३,४७ | जीव | जीव | आत्मा |
| ५५ | जुअ | युत | सहित |
| ४४,२७ | जुत्त | युक्त | ,, |
| ४५,४३,३१ | जुय | युत | ,, |
| ४६ | जोइस | ज्योतिष | चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतिष-मण्डल |
| ५५ | जोग | योग | संयम, पृष्ठ ११५ |
| ५१ | झुणि | ध्वनि | आवाज |
| ११ | ठिअ | स्थित | खड़ा |
| २ | ठिइ | स्थिति | स्थितिबन्ध, पृ० ५ |
| ३६,२२ | तण | तृण | घास |

| | | |
|---|---|---|
| ५०,३१,२४ तणु | तनु | शरीरनामकर्म पृ० ५६ |
| ४० तणु | तनु | शरीर |
| ४८ तणुकसाश्र | तनुकषाय | अल्प-कषाय-युक्त |
| ३५ तणुतिग | तनुत्रिक | तीन शरीर |
| ३६ तणुनाम | तनुनामन् | शरीर नामकर्म |
| ४ तत्थ | तत्र | उसमें |
| २२,२८,२६ तद् | तद् | वह |
| २७ तेसि | तेषाम् | उनका |
| २२ सो | सः | वह |
| ४७ से | तस्य | उसका |
| १ ति तो | तस्मात् | उस कारण से |
| २१,१४,६,२ तं | तत् | वह |
| ३८,३६,३५ तयं | तकत् | वह |
| १५,१० तस्स | तस्य | उसका |
| १० तेण | तेन | उससे |
| ५३ | | |
| ४६,२६,२६ तस | त्रस | त्रसनामकर्म पृ० ८२ |
| २८ तसचउ | त्रसचतुष्क | त्रस आदि ४, पृ० ५७ |
| २६ तसदसग | त्रसदशक | त्रस आदि १०, ५५ |
| ५८,३८ तहा | तथा | उस प्रकार |
| ४५ तहिं | तत्र | उसमें |
| १४ तहेव | तथैव | तथा |
| ४५ ताव | ताप | गर्मी |
| ४६,३०,२६ ति | त्रि | तीन |
| ५५,२५ त्ति | इति | समाप्ति-द्योतक |

| | | |
|---|---|---|
| २३ तिउत्तरसय | त्र्युत्तरशत | एक सौ तीन |
| ४३ तिग | त्रिक | तीन का समूह |
| १६ तिणिसलया | तिनिसलता | बेंत |
| ४२,४१ तित्त | तिक्त | तिक्तरसनामकर्म ७३ |
| ४७,२५ तित्थ | तीर्थ | तीर्थङ्करनामकर्म ८१ |
| ३१,२२ तिनवइ | त्रिनवति | तिरानवे |
| ३७ तिन्नि | त्रि | तीन |
| ३३ तिय | त्रिक | तीन |
| ३३,२३ तिरि | तिर्यच् | तिर्यञ्च |
| १८,१३ तिरिय | तिर्यच् | ,, |
| ५८ तिरियाउ | तिर्यगायुस् | तिर्यञ्चायु |
| १४ तिविह | त्रिविध | तीन प्रकारका |
| ३१ तिसय | त्रिशत | एक सौ तीन |
| ४७ तिहुयण | त्रिभुवन | तीन लोक |
| ५६,१३ तु | तु | तो |
| ३७,३३ तेय | तेजस् | तैजस |
| २७ थावर | स्थावर | स्थावरनाम कर्म, ५६ |
| २८ थावरचउक्क | स्थावरचतुष्क | स्थावर आदि ४,५७ |
| ४१,२६ थावरदस | स्थावरदशक | स्थावर आदि १०, ८८ |
| ४०,२६ थिर | स्थिर | स्थिरनामकर्म पृ० ८६ |
| २८ थिरछक्क | स्थिरषट्क | स्थिर आदि ६, ५७ |
| २२ थी | स्त्री | स्त्री |
| १२ थीणद्धी | स्त्यानर्द्धि | निद्रा-विशेष, पृ० ३० |
| ४६ थूल | स्थूल | स्थूल-मोटा |
| ५० दंत | दन्त | दाँत |
| ३६ दंताली | दन्ताली | दन्ताली |

| | | |
|---|---|---|
| १३ दंसण | दर्शन | यथार्थ श्रद्धान, पृ० ३३ |
| ६ दंसणचउ | दर्शनचतुष्क | दर्शनावरणचतुष्क २८ |
| ५६,१४ दंसणमोह | दर्शनमोह | दर्शनमोहनीय पृ० ३३ |
| ६,३ दंसणावरण | दर्शनावरण | दर्शनावरणकर्म पृ० ८ |
| ५५ दढधम्म | दृढधर्मन् ; | धर्ममें दृढ़ |
| ५८ दाणरुइ | दानरुचि | दान करने की रुचिवाला |
| ५५ दाण | दान | त्याग देना |
| २२ दाह | दाह | जलना |
| १० दिट्ठि | दृष्टि | आँख |
| २ दिट्ठन्त | दृष्टान्त | उदाहरण |
| १२ दिण | दिन | दिवस |
| ३७,२६,३ दु | द्वि | दो |
| ११ दुक्ख | दुःख | दुःख |
| ४३,३० दुग | द्विक | दो |
| ४२ दुगंध | दुर्गन्ध | दुरभिगन्धनाम कर्म |
| ४४ दुद्धरिस | दुर्धर्ष | अजेय |
| २७ दुभग | दुर्भग | दुर्भगनामकर्म पृ० ८६ |
| ४१ दुरहि | दुरभि | दुरभिगन्धनामकर्म, ७४ |
| ५७,१७,१३ दुविह | द्विविध | दो प्रकारका |
| ३२ दुवीस | द्वाविंशति | बाईस |
| २७ दुस्सर | दुःस्वर | दुःस्वरनामकर्म, ८९ |
| ५२,१२ दुहा | द्विधा | दो प्रकार से |
| ४६ देव | देव | देवता |
| ५६ देवदव्व | देवद्रव्य | देवके उद्देश्यसे इकट्ठा किया हुआ द्रव्य |
| ६१ देविंदसूरि | देवेन्द्रसूरि | देवेन्द्रसूरि |
| ५६ देसणा | देशना | उपदेश |

| | | | |
|---|---|---|---|
| १६ | दोस | द्वेष | अप्रीति |
| ५ | धारणा | धारणा | मतिज्ञान-विशेष पृ० १३ |
| १२ | धारा | धारा | धार |
| ४७,४५,१६, ५३ | न | न | निषेध |
| २२ | नगर | नगर | शहर |
| २२ | नपु | नपुंसक | नपुंसक, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों के लक्षण हैं |
| ४ | नयण | नेत्र | आँख |
| ३३,२३,१८ | नर | नर | मनुष्यगति |
| २२ | नर | नर | पुरुष—मरद |
| १३ | नरअ | नरक | अधोलोक, जिसमें दुःख अधिक है |
| २३,१८ | नरय | नरक | नरकगति |
| ५७ | नरयाउ | नरकायुस् | नरक आयु |
| ३७,१७,३ | नव | नवन् | नव |
| ४,३ | नाण | ज्ञान | विशेष उपयोग |
| ५० | नाभि | नाभि | नाभि |
| २७,३ | नाम | नामन् | नामकर्म, पृ० ६ |
| २३ | नामकम्म | नामकर्मन् | कर्म-विशेष, पृ० ५१ |
| ३८ | नाराय | नाराच | संहनन-विशेष पृ० ७१ |
| ३६ | नाराय | नाराच | दोनों ओर मर्कट-बन्ध रूप अस्थि रचना |
| १६ | नालियरदीव | नालिकेरद्वीप | द्वीप-विशेष, पृ० ३६ |
| ५६ | नासणा | नाशना | विनाश |
| ४० | निग्गोह | न्यग्रोध | न्यग्रोधपरिमण्डल संहनन, पृ० ७२ |

| | | |
|---|---|---|
| ६० निच्च | नित्य | सदा |
| ३८ निचश्र | निचय | रचना |
| १५ निज्जरणा | निर्जरणा | निर्जरा-तत्त्व, पृ० ३८ |
| ११ निद्दा | निद्रा | निद्रा पृ० २६ |
| ११ निद्दानिद्दा | निद्रानिद्रा | गाढ़ निद्रा पृ० ३० |
| ५४ निएहव | निन्हव | अपलाप—छिपाना |
| ३५ निबद्ध | निबद्ध | बँधा हुआ |
| ४८ निम्माण | निर्माण | निर्माणनामकर्म ८१ |
| २५ निमिण | निर्माण | निर्माणनामकर्म |
| ४६,४३ निय | निज | अपना |
| ४८ नियमण | नियमन | संगठन—व्यवस्थापन |
| ३३ निरय | निरय | नरक |
| ६०,५२ नीच | नीच | नीच गोत्र, पृ० ६० |
| ४२,४० नील | नील | नीलवर्णनामकर्म, ७३ |
| ३५ नेय | ज्ञेय | जानने योग्य |
| १७ नोकसाय | नोकषाय | मोहनीयकर्म-विशेष ४१ |
| २२ पइ | प्रति | तरफ |
| २ पएस | प्रदेश | प्रदेशबन्ध, पृ० ५ |
| ५४ पओस | प्रद्वेष | अप्रीति |
| ३० पंच | पञ्चन् | पाँच |
| ३६ पंचविह | पञ्चविध | पाँच प्रकारका |
| ६० (प्र+कृ) पकुणइ | प्रकरोति | करता है |
| १८ पक्खग | पक्षग | पक्ष-पर्यन्त स्थायी |
| १७ पच्चक्खाण | प्रत्याख्यान | प्रत्याख्यानावरण-कषाय, पृ० ४२ |
| ४६,२६ पज्जत्त | पर्याप्त | पर्याप्तनामकर्म ८३ |

| | | |
|---|---|---|
| ४६ पज्जत्ति | पर्याप्ति | पुद्गलोपचय-जन्य शक्ति-विशेष |
| ७ पज्जय | पर्याय | पर्यायश्रुत, पृ० २० |
| ३६ पट्ट | पट्ट | बेठन |
| ५३ पडिकूल | प्रतिकूल | विमुख—विरुद्ध |
| ५६ पडिणीय | प्रत्यनीक | अहितेच्छु |
| ५४ पडिणीयत्तण | प्रत्यनीकत्व | शत्रुता |
| ११ पडिबोह | प्रतिबोध | जागना |
| ७ पडिवत्ति | प्रतिपत्ति | प्रतिपत्ति-श्रुत पृ० २० |
| ८ पडिवाइ | प्रतिपाति | प्रतिपाति अवधिज्ञान २३ |
| ६ पड | पट | पट्टी |
| ३४ पढम | प्रथम | पहला |
| ३३,३०,३ पण | पञ्चन् | पाँच |
| ६ पणनिद्दा | पञ्चनिद्रा | निद्रा आदि ५ दर्शनावरणीयकर्म |
| ३ पणविह | पञ्चविध | पाँच प्रकारका |
| ३० पणसट्ठी | पञ्चषष्टि | पैंसठ |
| ४६ पणिंदिय | पञ्चेन्द्रिय | पाँच इन्द्रिय-सम्पन्न |
| २५ पत्तेय | प्रत्येक | उपभेद-रहित प्रकृति |
| ५०,२६ पत्तेय | प्रत्येक | प्रत्येकनामकर्म पृष्ठ ८६ |
| ५० पत्तेयतणु | प्रत्येकतनु | जिसका स्वामी एक जीव है वैसी देह |
| ३१ पनर | पञ्चदशन् | पंद्रह |
| ३४ पमुह | प्रमुख | प्रभृति—वगैरह |
| ७ पय | पद | पदश्रुत पृ० २० |
| २ पइय | प्रकृति | प्रकृति-बन्ध पृ० ४ |
| ५८ पयइ | प्रकृति | स्वभाव |

| | | | |
|---|---|---|---|
| २६,२८ | पयडि | प्रकृति | कर्म-प्रकृति |
| ११ | पयलपयला | प्रचलाप्रचला | निद्रा-विशेष पृ० ३० |
| २२ | पयला | प्रचला | ,, ,, |
| ४६ | पयासरूव | प्रकाशरूप | प्रकाशमान स्वरूप |
| ४४ | पर | पर | अन्य |
| ४४,२५ | परघाय | पराघात | पराघातनामकर्म ७८ |
| ६१ | परायण | परायण | तत्पर |
| ५७ | परिग्गह | परिग्रह | आसक्ति |
| ४४ | पाणि | प्राणिन् | जीव |
| १५ | पाव | पाप | पाप-तत्त्व, पृ० ३८ |
| ७ | पाहुड | प्राभृत | प्राभृत श्रुत, पृ० २१ |
| ७ | पाहुडपाहुड | प्राभृतप्राभृत | प्राभृतप्राभृत श्रुत २१ |
| ५७,४४ | पि | अपि | भी |
| ३४ | पिट्ठी | पृष्ठ | पीठ |
| २५ | पिंडपयडि | पिण्डप्रकृति | उपभेदवाली प्रकृति |
| ३६,३५ | पुग्गल | पुद्गल | रूप, रस आदि गुण-वाला पदार्थ |
| ४७ | पुज्ज | पूज्य | पूजनीय |
| १६ | पुढवि | पृथिवी | जमीन |
| ५ | पुण्ण | पुण्य | पुण्य-तत्त्व पृ० ३८ |
| २ | पुरिस | पुरुष | मरद |
| ७ | पुव्व | पूर्व | पूर्वश्रुत, पृष्ठ २१ |
| ४३ | पुव्वी | पूर्व्वी | आनुपूर्वी |
| ६१ | पूया | पूजा | पूजा—बहुमान |
| ४१,२४ | फास | स्पर्श | स्पर्शनामकर्म पृ० ५३ |
| २२ | फुंफुमा (दे०) | ( ) | करीषाग्नि-कण्डेकी आग |
| १५ | बंध | बन्ध | बन्ध-तत्त्व, पृ० ३८ |

| | | |
|---|---|---|
| ३२ बंध | बन्ध | बन्ध-प्रकरण |
| ३५,३१,२४ ) वंधण<br>२७-३६ ) | बन्धन | बन्धननामकर्म पृष्ठ ५२,६६ |
| ३५ वज्झंतय | बध्यमानक | वर्तमान में बंधनेवाला |
| १२ बल | बल | बल |
| ५७ बंधइ | बन्ध्-बध्नाति | बाँधता है |
| ४४ बलि | बलिन् | बलवान् |
| १५ बहुभेय | बहुभेद | बहुत प्रकारका |
| ४६,२६ बायर | बादर | बादर नाम कर्म पृ० ८२ |
| ४६ बायर | बादर | स्थूल |
| २३ बायाल | द्विचत्वारिंशत् | बयालीस |
| ५६ बालतव | बालतपस् | अज्ञान-पूर्वक तप करने वाला |
| ३४ बाहु | बाहु | भुजा |
| ४६ बि | द्वि | दो |
| ३३ बिय | द्विक | दो |
| १ भण्णए | भण्-भण्यते | कहा जाता है |
| ६० भत्त | भक्त | सेवक |
| २१ भय | भय | डर |
| ५२ भुंभल | भुंभल | मद्य-पात्र |
| ५२ भेय | भेद | प्रकार |
| ५२ भोग | भोग | भोगना |
| ४ मइ | मति | मतिज्ञान पृ० १० |
| ४ मइनाण | मतिज्ञान | " " |
| ३६ मक्कडबंध | मर्कटबन्ध | मर्कट के समान बन्ध |
| ५६ मग्ग | मार्ग | राह-परम्परा |
| १३ मज्ज | मद्य | शराब |

| | | |
|---|---|---|
| ५८ मज्झिमगुण | मध्यमगुण | मध्यमगुण |
| ४ मण | मनस् | मनःपर्यायज्ञान पृ० ११ |
| ५७,४ मण | " | मन-आभ्यन्तर-इन्द्रिय |
| ८ मणनाण | मनोज्ञान | मनःपर्यायज्ञान, २४ |
| १६ मणु | मनुज | मनुष्य |
| १३ मणुअ | मनुज | " |
| ६० मय | मद | घमंड |
| ५७ महारंभ | महारम्भ | हिंसामें महती प्रवृत्ति |
| १२ महु | मधु | शहद |
| ४१,४१ महुर | मधुर | मधुररसनामकर्म ७४ |
| ५१ महुर | मधुर | मीठा |
| १८ माण | मान | अभिमान |
| ५ माणस | मानस | मन |
| २० माया | माया | कपट |
| ४१ मिउ | मृदु | मृदुस्पर्शनामकर्म ७५ |
| २० मिंढ (दे०) | ( ) | मेष-भेड़ |
| १४ मिच्छत्त | मिथ्यात्व | मिथ्यात्वमोहनीय ३६ |
| १६ मिच्छा | मिथ्या | " " |
| १६,१४ मीस | मिश्र | मिश्रमोहनीय " |
| ३२ मीसय | मिश्रक | मिश्रमोहनीय " |
| १५ मुक्ख | मोक्ष | मोक्षतत्त्व पृ० ३८ |
| ५६ मुणि | मुनि | साधु |
| २ मूलपगइ | मूल प्रकृति | मुख्य प्रकृति |
| २ मोयग | मोदक | लड्डू |
| १३,३ मोह | मोह | मोहनीय कर्म पृ० ८ |
| २१ मोहणीय | मोहनीय | मोहनीय कर्म पृ० ८ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३६,१७,७५८ | य | च | और |
| ३६,३५,६ | जं | यत् | जो |
| ४५ | जं | यत् | क्योंकि |
| २१ | जस्स | यस्य | जिसका |
| १ | जेणं | येन | जिस कारण |
| १५ | जेणं | येन | जिससे |
| ५७ | रश्र | रत | आसक्त |
| २१ | रइ | रति | प्रेम, अनुराग |
| ४५ | रविबिंब | रविबिम्ब | सूर्य-मण्डल |
| २ | रस | रस | रस |
| ४१,२४ | रस | रस | रसनामकर्म, पृ० ४३ |
| ६० | रहिश्र | रहित | त्यक्त |
| १६ | राई | राजी | रेखा, लकीर |
| १९ | राग | राग | प्रीति, ममता |
| ५३ | राय | राजन् | राजा |
| ८ | रिउमइ | ऋजुमति | मनःपर्यायज्ञान-विशेष पृष्ठ २४ |
| २६ | रिसह | ऋषभ | पट्ट, वेठन |
| ३८ | रिसहनाराय | ऋषभनाराच | ऋषभनाराचसंहनन पृष्ठ ७१ |
| ६० | रुइ | रुचि | अभिलाष |
| ४२,४१ | रुक्ख | रूक्ष | रूक्षस्पर्शनामकर्म ७५ |
| २७ | रुद्द | रुद्र | क्रूर |
| १६ | रेणु | रेणु | धूल |
| ४८ | लंबिगा | लम्बिका | प्रतिजिह्वा, पडजीभ |
| ४१ | लघु | लघु | लघुस्पर्शनामकर्म, ७५ |

| | | |
|---|---|---|
| ४६ लद्धि | लब्धि | लब्धि—शक्ति-विशेष |
| ४७ लहुय | लघुक | हलका |
| ५२ लाभ | लाभ | प्राप्ति |
| १२ लित्त | लिप्त | लगा हुआ |
| ६१ लिहिश्र | लिख्-लिखित | लिखा हुआ |
| १२ लिहण | लेहन | चाटना |
| ५१ लोय | लोक | प्राणिवर्ग |
| २० लोह | लोभ | ममता |
| ४० लोहिय | लोहित | लोहितवर्णनामकर्म ७३ |
| ५ व | वा | अथवा |
| ३६,१३,१२ व | इव | जैसा |
| ४६,४३,६ व्व | इव | जैसा |
| ४ वंजणवग्ग | व्यञ्जनावग्रह | मतिज्ञान-विशेष पृ० ११ |
| १ वंदिय | (वंद्)वंदित्वा | वंदन करके |
| २० वंसिमूल | वंशमूल | बाँसकी जड़ |
| ४३ वक्क | वक्र | विग्रह, टेढ़ा |
| १ (वच्) वुच्छं | वक्ष्ये | कहूँगा |
| ३६ वज्ज | वज्र | कीला |
| ३८ वज्जरिसहप्य-नाराय | वज्र ऋषभ-नाराच | वज्रऋषभनाराच-संहनन, पृष्ठ ७१ |
| ८ वड्ढमाणय | वर्धमान | अवधिज्ञान-विशेष २३ |
| २४ वण्ण | वर्ण | वर्णनामकर्म, पृ० ५२ |
| ३१,२६ वण्णचउ | वर्णचतुष्क | वर्ण आदि ४ पृ० ५७ |
| ७ वत्थु | वस्तु | वस्तुश्रुत, पृ० २१ |
| २४ वन्न | वर्ण | वर्णनाम कर्म पृ० ५२ |
| ५५ वय | व्रत | नियम |
| १८ वरिस | वर्ष | बरस, साल |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४३ | वस | वृष | बैल |
| ४४ | वस | वश | अधीनता |
| ३१,२१ | वा | वा | अथवा |
| ४० | वामण | वामन | वामनसंस्थाननाम ७३ |
| ५३,४७,६ | वि | अपि | भी |
| ८ | विउलमइ | विपुलमति | मनः पर्यायज्ञान-विशेष पृ० २४ |
| ३७ | विउव्व | वैक्रिय | वैक्रिय शरीर |
| ३७,३३ | विउव्व | वैक्रिय | वैक्रियशरीरनामकर्म ६३ |
| ६१,५३,५२ | विग्घ | विघ्न | अन्तराय कर्म, पृ० ६ |
| ६१ | विग्घकर | विघ्नकर | प्रतिबन्ध करनेवाला |
| ५५ | विजय | विजय | जय |
| ४ | विण | विना | बिना-सिवाय |
| ६ | वित्ति | वेत्रिन् | दरवान |
| २६,२८ | विभासा | विभाषा | परिभाषा-संकेत |
| ५१ | विवज्जत्थ | विपर्यस्त | विपरीत |
| ५५ | विवज्जय | विपर्यय | उल्टा |
| १६ | विवरीय | विपरीत | विपरीत—उल्टा |
| ५७ | विवस | विवश | अधीन |
| २३ | विह् | विध | प्रकार |
| ४३,२४ | विहगगइ | विहायोगति | विहायोगतिनाम कर्म पृष्ठ ५३, ७७ |
| ५७ | विसय | विषय | भोग |
| ८ | विहा | विधा | प्रकार |
| १ | वीरजिण | वीरजिन | श्री महावीर तीर्थंकर |
| ५२ | वीरिअ | वीर्य | पराक्रम |
| ३२,२७ | वीस | विंशति | बीस |

| | | |
|---|---|---|
| ४ वीसहा | विंशतिधा | बीस प्रकारका |
| २२ वेअ | वेद | वेदमोहनीय पृ० ४६ |
| ३ वेय | वेद्य | वेदनीयकर्म पृ० ८ |
| १२ वेयणिय | वेदनीय | " |
| २६,२८ संखा | संख्या | गिनती |
| ५६ संघ | सङ्घ | साधु आदि चतुर्विध संघ |
| २४ संघयण | संहनन | संहननाम कर्म पृ० ५२ |
| ३८ संघयण | संहनन | हाड़ोंकी रचना |
| ७ संघाय | सङ्घात | श्रुतज्ञान-विशेष पृ० २० |
| ३१,२६ संघाय | सङ्घात | संघातन म कर्म पृ० ६८ |
| २४ संघायण | सङ्घातन | संघातननाम कर्म ५६ |
| १७ संजलण | संज्वलन | संज्वलन कषाय पृ० ४२ |
| ४०,२४ संठाण | संस्थान | संस्थाननामकर्म ५२ |
| ३१ संत | सत् | सत्ता |
| ६ संनि | संज्ञिन् | मनवाला, पृ० १६ |
| ३५ संबंध | सम्बन्ध | संयोग |
| ६ सम्म | सम्यच् | सम्यग्दृष्टि |
| १५ संवर | संवर | संवर तत्त्व, पृ० ३८ |
| ३६ ( सं.X.हन् ) | | |
| संघायइ | संघातयति | इकट्ठा करता है |
| ३७ सग | स्वक | स्वीय—अपना |
| ५८ सढ | शठ | धूर्त |
| ४८ सतणु | स्वतनु | अपना शरीर |
| ६ सत्त | सप्त | सात |
| ३२,३३ सत्तट्ठि | सप्तषष्ठि | सड़सठ |
| ३२ सत्ता | सत्ता | कर्मका स्वरूपसे अप्रच्यव |

| | | |
|---|---|---|
| २१ सनिमित्त | सनिमित्त | सहेतुक |
| ६ सपज्जवसिय | सपर्यवसित | अन्त-सहित |
| ६ सपडिवक्ख | सप्रतिपक्ष | विरोधि-सहित |
| ३२,१४ सम्म | सम्यक् | सम्यक्त्वमोहनीय ३४ |
| २३,२२,२० ६,४८,३५ } सम | सम | तुल्य |
| ४० समचउरंस | समचतुरस्र | समचतुरस्रसंस्थान ७२ |
| १ समासओ | समासतः | संक्षेपसे |
| ३२ सय | शत | सौ |
| ५६ सरल | सरल | निष्कपट |
| २३,१६ सरिस | सदृश | समान |
| ३३ सरीर | शरीर | शरीरनामकर्म पृ० ६३ |
| ५१,५० सव्व | सर्व | सब |
| ७ ससमास | ससमास | समास-सहित |
| १८ सव्वविरइ | सर्वविरति | सर्वविरतिचारित्र |
| ५८ ससल्ल | सशल्य | माया आदि शल्य-सहित |
| ३७ सहिय | सहित | युक्त |
| ४० साइ | सादि | सादिसंस्थाननाम ७३ |
| ६ साइय | सादिक | आदि-सहित |
| १० सामन्न | सामान्य | निराकार |
| ३१ सामन्न | सामान्य | अवान्तरभेद-रहित |
| २० सामाण | समान | समान |
| ५५,१३ साय | सात | सातवेदनीय पृ० ३२ |
| २७ साहारण | साधारण | साधारण नाम पृ० ८८ |
| २० सिंग | शृङ्ग | सींग |
| ४१ सिणिद्ध | स्निग्ध | स्निग्धस्पर्शनाम ७५ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| २३,२२,२०, ६,४८३५ | सम | सम | तुल्य |
| ४० | समचउरंस | समचतुरस्र | समचतुरस्रसंस्थान ८४ |
| १ | | समासतः | संक्षेप से |
| ३२ | सद | शत | सौ |
| ५२ | सरल | सरल | निष्कपट |
| २३,१६ | सरिस | सदृश | समान |
| ३३ | सरीर | शरीर | शरीरनामकर्म पृ० ५६ |
| ५१,५० | सव्व | सर्व | सब |
| ७ | ससमास | ससमास | समास सहित |
| १८ | सव्वविरइ | सर्वविरति | सर्वविरतिचारित्र |
| ५८ | ससल्ल | सशल्य | माया आदि शल्य-सहित |
| ३७ | सहिय | सहित | युक्त |
| ४० | साइ | सादि | सादि संस्थान नाम पृ० ८४ |
| ६ | साइय | सादिक | आदि सहित |
| १० | सामन्न | सामान्य | निराकार |
| ३१ | सामन्न | सामान्य | अवान्तर भेद रहित |
| २० | सामाण | समान | समान |
| ५५,१३ | साय | सात | सातवेदनीय पृ० ३५ |
| २७ | साहारण | साधारण | साधारणनाम पृ० १०४ |
| २० | सिंग | शृङ्ग | सींग |
| ४१ | सिणिद्ध | स्निग्ध | स्निग्धस्पर्शनाम पृ० ७५ |
| ४० | सिय | सित | सितवर्णनाम पृ० ७३ |
| ५०,३४ | सिर | शिरस् | मस्तक |

| | | |
|---|---|---|
| १ सिरि | श्री | लक्ष्मी |
| ४१ सीअ | शीत | शीतस्पर्शनामकर्म ७५ |
| ४२ सीय | शीत | " |
| १४ सुद्ध | शुद्ध | शुद्ध |
| ४८ सुत्तहार | सूत्रधार | बढ़ई |
| २६ सुभ | शुभ | शुभनामकर्म पृ० ८७ |
| ४३,४२ सुभ | शुभ | सुन्दर-अच्छा |
| ५०,२६ सुभग | सुभग | सुभगनामकर्म पृ० ८७ |
| २८ सुभगतिग | सुभगत्रिक | सुभग आदि ३ प्रकृतियाँ |
| ५,४ सुच | श्रुत | श्रुतज्ञान पृ० १० |
| ३२,३३,१३ सुर | सुर | देव |
| ४१ सुरहि | सुरभि | सुरभिगन्ध नाम पृ० ७४ |
| ५६ सुराउ | सुरायुस् | देवायु |
| ५१,२६ सुसर | सुस्वर | सुस्वरनामकर्म पृ० ८७ |
| ५० सुह | शुभ | शुभनामकर्म पृ० ८७ |
| ५१ सुह | सुख | सुखप्रद |
| १० सुह | सुख | सुख |
| ५६ सुहनाम | शुभनामन् | शुभनाम कर्म |
| २८ सुहुमतिग | सूक्ष्मत्रिक | सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण |
| २७ सेयर | सेतर | सप्रतिपक्ष |
| १८ सेलत्थंभो | शैलस्तम्भ | पत्थरका खम्भा |
| ४२,३४,१० सेस | शेष | बाकी |
| २१ सोग | शोक | शोक—उदासीनता |
| १७ सोलस | षोडशन् | सोलह |
| २३ हड्डि | हड्डि | हड्डी |
| ५६ हरण | हरण | छीनना |

| | | |
|---|---|---|
| २३,२२,२०, ६,४८३५ } सम | सम | तुल्य |
| ४० समचउरंस | समचतुरस्र | समचतुरस्रसंस्थान ८४ |
| १ | समासतः | संक्षेप से |
| ३२ सद | शत | सौ |
| ५२ सरल | सरल | निष्कपट |
| २३,१६ सरिस | सदृश | समान |
| ३३ सरीर | शरीर | शरीरनामकर्म पृ० ५६ |
| ५१,५० सव्व | सर्व | सब |
| ७ ससमास | ससमास | समास सहित |
| १८ सव्वविरइ | सर्वविरति | सर्वविरतिचारित्र |
| ५८ ससल्ल | सशल्य | माया आदि शल्य-सहित |
| ३७ सहिय | सहित | युक्त |
| ४० साइ | सादि | सादि संस्थान नाम पृ० ८४ |
| ६ साइय | सादिक | आदि सहित |
| १० सामन्न | सामान्य | निराकार |
| ३१ सामन्न | सामान्य | अवान्तर भेद रहित |
| २० सामाण | समान | समान |
| ५५,१३ साय | सात | सातवेदनीय पृ० ३५ |
| २७ साहारण | साधारण | साधारणनाम पृ० १०४ |
| २० सिंग | शृङ्ग | सींग |
| ४१ सिणिद्ध | स्निग्ध | स्निग्धस्पर्शनाम पृ० ७५ |
| ४० सिय | सित | सितवर्ण नाम पृ० ७३ |
| ५०,३४ सिर | शिरस् | मस्तक |

# पहिले कर्मग्रन्थकी मूल गाथायें
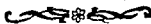
सिरिवीरजिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेउहिं, जेणंतो भन्नए कम्मं ॥ १ ॥
पयइठिइरसपएसा, तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता ।
मूलपगइट्ठउत्तर, पगई अडवन्नसयभेयं ॥ २ ॥
इह नाणदंसणावरण-वेयमोहाउनामगोयाणि ।
विग्घं च पणनवदुअ-ट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥ ३ ॥
मइसुयओहीमणके-वलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं ।
वंजणवग्गह चउहा, मणनयण विणिंदियचउक्का ॥ ४ ॥
अत्थुग्गहईहावा-यधारणा करणमाणसेहिं छहा ।
इय अट्ठवीसभेयं, चउदसहा वीसहा व सुयं ॥ ५ ॥
अक्खरसन्नीसम्मं, साइअं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥ ६ ॥
पज्जयअक्खरपयसं-घाया पडिवत्ति तह य अणुओगो ।
पाहुडपाहुडपाहुड—वत्थूपुव्वा य ससमासा ॥ ७ ॥
अणुगामिवड्ढमाणय-पडिवाईयरविहा छहा ओही ।
रिउमइ विमल (विउल) मई मण-नाणं केवलमिगविहाणं ॥ ८ ॥
एसिं जं आवरणं, पडु व्व चक्खुस्स तं तयावरणं ।
दंसणचउ पण निद्दा, वित्तिसमं दंसणावरणं ॥ ९ ॥
चक्खूदिट्ठिअचक्खु-सेसिंदियओहिकेवलेहिं च ।
दंसणमिह सामन्नं, तस्सावरणं तयं चउहा ॥ १० ॥
सुहपडिबोहा निद्दा, निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा ।
पयला ठिओवविट्ठ—स्स पयलपयला उ चंकमओ ॥ ११ ॥
दिणचिंतियत्थकरणी, थीणद्धी अद्धचक्किअद्धबला ।
महुलित्तखग्गधारा-लिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥ १२ ॥

| | | |
|---|---|---|
| ४० हलिद्द | हरिद्रा | हारिद्रवर्ण नाम कर्म |
| २० हलिद्दा | हरिद्रा | हल्दी |
| २२,१४ हवइ | भू-भवति | है—होता है |
| ४४ हवेइ | भू-भवति | होता है |
| २१ हास | हास्य | हँसी |
| ४७,२२ हास्य | हास्य | हास्यमोहनीय पृ० ४७ |
| ६१ हिंसा | हिंसा | वध |
| ४० हुंड | हुण्ड | हुण्ड संस्थान पृ० ७३ |
| १ हेउ | हेतु | कारण |
| ४४,२१ होइ | भू-भवति | होता है |

---

## कोषके सम्बन्धमें कुछ सूचाएं—

(१) जिस शब्दके अर्थके साथ पृ० नं० दिया है, वहाँ समझना कि उस शब्दका विशेष अर्थ है और वह उस नं० के पृष्ठपर लिखा हुआ है। (२) जिस शब्दके साथ (दे०) अक्षर है, वहाँ समझना चाहिये कि यह शब्द देशीय प्राकृत है। (३) जिस प्राकृत क्रियापदके साथ संस्कृत धातु दिया है, वहाँ समझना कि वह प्राकृत रूप संस्कृत धातुके प्राकृत आदेशसे बना है। (४) जिस जगह प्राकृत क्रियापदकी छायाके साथ संस्कृत प्राकृत निर्दिष्ट की है, वहाँ समझना कि प्राकृत क्रियापद संस्कृत क्रियापदके ऊपरसे ही बना है; आदेशसे नहीं। (५) सहादि सर्वनामके प्राकृत रूप सविभक्तिक ही दिये हैं। साथ ही उनकी मूल प्रकृतिका इसलिये उल्लेख किया है कि ये रूप अमुक प्रकृतिके हैं, यह सहजमें जाना जा सके।

---

पिंडपयडित्ति चउदस, परघाउस्सासआयवुज्जोयं।
अगुरुलहुतित्थनिमिणो-वघायमिय अट्ठ पत्तेया ॥ २५ ॥

तसवायरपज्जत्तं, पत्तेयथिरं सुभं च सुभगं च।
सुसराइज्जजसं तस-दसगं थावरदसं तु इमं ॥ २६ ॥

थावरसुहुमअपज्जं, साहारणअथिरअसुभदुभगाणि।
दुस्सरणाइज्जाजस-मिय नामे सेयरा वीसं ॥ २७ ॥

तसचउथिरछक्कं अथि-रछक्क सुहुमतिगथावरचउक्कं।
सुभगतिगाइविभासा, (तयाइ तदाइसंखाहि पयडीहिं ॥ २८ ॥

वण्णचउ अगुरुलहुचउ, तसाइ-दुति-चउर-छक्कमिच्चाइ।
इअ अन्नावि विभासा, तयाइसंखाहिं पयडीहिं ॥ २९ ॥

गइयाईण उ कमसो, चउपणपणतिपणपंचछछक्कं।
पणदुगपणट्ठचउदुग, इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥ ३० ॥

अडवीसजुया तिनवइ, संते वा पनरबंधणे तिसयं।
बंधणसंघायगहो, तणुसु सामण्णवण्णचऊ ॥ ३१ ॥

इय सत्तट्ठी बंधो-दए य न य सम्ममीसया बंधे।
बंधुदए सत्ताए, वीसदुवीसट्ठवण्णसयं ॥ ३२ ॥

निरयतिरिनरसुरगई, इगबियतियचउपणिंदिजाईओ।
ओरालविउव्वाहा-रगतेयकम्मण पण सरीरा ॥ ३३ ॥

बाहूरु पिट्ठि सिर उर, उयरंग उवंग अंगुली पमुहा।
सेसा अंगोवंगा, पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥ ३४ ॥

उरलाइपुग्गलाणं, निबद्धबज्झंतयाण संबंधं।
जं कुणइ जउसमं तं, उरलाईबंधणं नेयं (बंधणमुरलाई तणुनामा)

जं संघायइ उरला-इपुग्गले तणगणं व दंताली।
तं संघायं बंधण-मिव तणुनामेण पंचविहं ॥ ३६ ॥

ओसन्नं सुरमणुए, सायमसायं तु तिरियनरएसु ।
मज्जं व मोहणीयं, दुविहं दंसणचरणमोहा ॥ १३ ॥

दंसणमोहं तिविहं, सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं, अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥ १४ ॥

जिअअजिअपुण्णपावा-सवसंवरबंधमुक्खनिज्जरणा ।
जेणं सद्दहइ तयं, सम्मं खइगाइबहुभेयं ॥ १५ ॥

मीसा न रागदोसो, जिणधम्मे अंतमुहु जहा अन्ने ।
नालियरदीवमणुणो, मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ॥ १६ ॥

सोलस कसाय नव नो-कसाय दुविहं चरित्तमोहणीयं ।
अणअप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥ १७ ॥

जाजीववरिसचउमा-सपक्खगा नरयतिरियनरअमरा ।
सम्माणुसव्वविरई-अहखायचरित्तघायकरा ॥ १८ ॥

जलरेणुपुढविपव्वय-राईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठट्ठिय-सेलत्थंभोवमो माणो ॥ १९ ॥

मायावलेहिगोमु-त्तिमिंढसिंगघणवंसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजण-कद्दमकिमिराग (सारित्थो) सामाणो ॥ २० ॥

अस्सुदया होइ जिए, हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा, तं इह हासाइमोहणियं ॥ २१ ॥

पुरिसित्थितदुभयं पइ, अहिलासो जव्वसा हवइ सो उ ।
थीनरनपुवेउदओ, फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥ २२ ॥

सुरनरतिरिनरयाऊ, हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं ।
बायालतिनवइविहं, तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥ २३ ॥

गइजाइतणुउवंगा, बंधणसंघायणाणि संघयणा ।
संठाणवन्नगंधर-सफासअणुपुव्विविहगगई ॥ २४ ॥

वितिचउपणिंदिय तसा, वायरश्रो वायरा जिया थूला ।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥ ४६ ॥
पत्तेय तणू पत्तो-उदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं ।
नाभुवरि सिराइ सुहं, सुभगाश्रो सव्वजणइट्ठो ॥ ५० ॥
सुसरा महुरसुहभुणी, श्राइज्जा सव्वलोयगिज्झवश्रो ।
जसश्रो जसकित्तीश्रो, थावरदसगं विवज्जत्थं ॥ ५१ ॥
गोयं दुहुच्चनीय, कुलाल इव सुवडभुंभलाईयं ।
विग्घं दाणे लाभे, भोगुवभोगेसु वीरिए य ॥ ५२ ॥
सिरिहरियसमं एयं, जह पडिकूलेण तेण रायाई ।
न कुणइ दाणाईयं, एवं विग्घेण जोवो वि ॥ ५३ ॥
पडिणीयत्तणनिण्हव-उवघायपश्रोसश्रंतराएणं ।
श्रच्चासायणयाए, श्रावरणदुगं जिश्रो जयइ ॥ ५४ ॥
गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुश्रो ।
दढधम्माई श्रज्जइ, सायमसायं विवज्जयश्रो ॥ ५५ ॥
उमग्गदेसणामग्ग-नासणादेवदव्वहरणेहिं ।
दंसणमोहं जिणमुणि, चेइयसंघाइपडिणीश्रो ॥ ५६ ॥
दुविहं पि चरणमोहं, कसायहासाइविसयविवसमणो ।
बंधइ निरयाउ महा, रंभपरिग्गहरश्रो रुद्दो ॥ ५७ ॥
तिरियाउ गूढहियश्रो, सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ ।
पयईइ तणुकसाश्रो, दाणरुई मज्झिमगुणो य ॥ ५८ ॥
श्रविरयमाइ सुराउं, बालतवोकामनिज्जरो जयइ ।
सरलो श्रगारविल्लो, सुहनामं श्रन्नहा श्रसुहं ॥ ५६ ॥
गुणपेही मयरहियो, श्रज्जयणज्झावणारुई निच्चं ।
पकुणइ जिणाइभत्तो, उच्चं नीयं इयरहा उ ॥ ६० ॥
जिणपूयाविग्घकरो, हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं ।
इय कम्मविवागोऽयं, लिहियो देविंदसूरीहिं ॥ ६१ ॥

ओरालविउव्वाहार-तेयाणं सगतेयकम्मजुत्ताणं ।
नवबंधणाणि इयरदु-सहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥ ३७ ॥

संघयणमट्ठिनिचओ, तं छद्धा वज्जरिसहनारायं ।
तह रिसह नारायं (रिसहं नारायं) नारायं अद्धनारायं ॥ ३८ ॥

कीलिय छेवट्ठं इह, रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं ।
उभओ मक्कडबंधो, नारायं इममुरालंगे ॥ ३९ ॥

समचउरंसं निग्गो-हसाइखुज्जाइ वामणं हुंडं ।
संठाणा वण्णा किण्ह-नीललोहियहलिद्दसिया ॥ ४० ॥

सुरिहिदुरही रसा पण, तित्तकडुकसायअंबिला महुरा ।
फासा गुरुलहु (घु) मिउखर-सीउण्हसिणिद्धरुक्खट्ठा ॥ ४१ ॥

नीलकसिणं दुगंधं, तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं ।
सीयं च असुहनवगं, इक्कारसगं सुभं सेसं ॥ ४२ ॥

चउहगइव्वणुपुव्वी, गइपुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं ।
पुव्वी उदओ वक्के, सुहअसुहवसुट्टविहगगई ॥ ४३ ॥

परघाउदया पाणी, परेसिं बलिणं पि होइ दुद्धरिसो ।
ऊससणलद्धिजुत्तो, हवेइ ऊसासनामवसा ॥ ४४ ॥

रविबिंबे उ जियंगं, तावजुयं आयवाउ न उ जलणे ।
जमुसिणफासस्स तहिं, लोहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥ ४५ ॥

[illegible] [illegible] उज्जोया ।
[illegible] व्व ॥ ४६ ॥

अंगं न गुरु न लहुयं, जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।
तित्थेण तिहुयणस्स वि, पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥ ४७ ॥

अंगोवंगनियमणं, निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
उवघाया [illegible] उवहम्मइ, सतणुवयवलंबिगाईहिं ॥ ४८ ॥

विविचउपणिंदिय तसा, बायरओ बायरा जिया थूला।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥ ४६ ॥
पत्तेय तणू पत्ते-उदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं।
नाभुवरि सिराइ सुहं, सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥ ५० ॥
सुसरा महुरसुहझुणी, आइज्जा सव्वलोयगिज्झवओ।
जसओ जसकित्तीओ, थावरदसगं विवज्जत्थं ॥ ५१ ॥
गोयं दुहुच्चनीयं, कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं।
विग्घं दाणे लाभे, भोगुवभोगेसु वीरिए य ॥ ५२ ॥
सिरिहरियसमं एयं, जह पडिकूलेण तेण रायाई।
न कुणइ दाणाईयं, एवं विग्घेण जीवो वि ॥ ५३ ॥
पडिणीयत्तणनिण्हव-उवघायपओसअंतराएणं।
अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जिओ जयइ ॥ ५४ ॥
गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ ।
दढधम्माई अज्जइ, सायमसायं विवज्जयओ ॥ ५५ ॥
उमग्गदेसणामग्ग-नासणादेवदव्वहरणेहिं।
दंसणमोहं जिणमुणि, चेइयसंघाइपडिणीओ ॥ ५६ ॥
दुविहं पि चरणमोहं, कसायहासाइविसयविवसमणो।
बंधइ निरयाउ महा, रंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥ ५७ ॥
तिरियाउ गूढहियओ, सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ।
पयईइ तणुकसाओ, दाणरुई मज्झिमगुणो य ॥ ५८ ॥
अविरयमाइ सुराउं, बालतवोकामनिज्जरो जयइ।
सरलो अगारविल्लो, सुहनामं अन्नहा असुहं ॥ ५९ ॥
गुणपेही मयरहियो, अज्झयणज्झावणारुई निच्चं।
पकुणइ जिणाइभत्तो, उच्चं नीयं इयरहा उ ॥ ६० ॥
जिणपूयाविग्घकरो, हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं।
इय कम्मविवागोऽयं, लिहियो देविंदसूरीहिं ॥ ६१ ॥

# श्वेताम्बरीय कर्म-विषयक-ग्रन्थ

| संख्या | ग्रन्थ-नाम | परिमाण | कर्त्ता | रचना-समय |
|---|---|---|---|---|
| १ | कर्मप्रकृति † | गा. ४७५ | शिवशर्मसूरि | अनुमान विक्रमकी ५ वीं शताब्दी |
| | " चूर्णी | श्लो. ७००० | अज्ञात | अज्ञात, किंतु वि. १२ वीं श. के पूर्व |
| | " चूर्णी टिप्पन × | श्लो. १९२० | मुनिचन्द्रसूरि | वि. की १२ वीं शताब्दी |
| | " वृत्ति † | श्लो. ८००० | मलयगिरि | वि. की १२-१३ वीं शताब्दी |
| | " वृत्ति † | श्लो. १३००० | यशोविजयोपाध्याय | वि. की १८ वीं शताब्दी |
| २ | पञ्चसंग्रह † | गा. ९६३ | चन्द्रर्षिमहत्तर | अनुमान वि. की ९ वीं शताब्दी |
| | " स्वोपज्ञवृत्ति | श्लो. ९००० | " | " |
| | " बृहद्वृत्ति | श्लो. १८८५० | मलयगिरिसूरि | वि. की १२-१३ वीं शताब्दी |
| | " दीपक × | श्लो. २५०० | जिनेश्वरसूरि-शिष्य वामदेव | |
| ३ | प्राचीन षट् कर्म ग्रन्थ | गा. ५६७ | | अज्ञात |

† ऐसे चिह्न वाले ग्रन्थ छप चुके हैं। × ऐसे चिह्न वाले ग्रन्थका परिचय जैन-ग्रन्थावलीमें मुद्रित बृहट्टिप्पनिकामें पाया जाता है।

| संख्या | ग्रन्थ-नाम | परिमाण | कर्त्ता | रचना-समय |
|---|---|---|---|---|
| | (१) कर्म विपाक † | गा. १६८ | गर्गर्षि | वि. की १० वीं शताब्दी |
| | ,, ,, वृत्ति † | श्लो. ९२२ | परमानन्दसूरि | वि. की १२-१३ वीं शताब्दी |
| | ,, ,, व्याख्या † | ,, १००० | अज्ञात | अज्ञात, किंतु वि. सं १२७२ के पूर्व |
| | ,, ,, टिप्पन × | ,, ४२० | उदयप्रभसूरि | वि १३ वीं श. |
| | (२) कर्मस्तव † | गा. ५७ | अज्ञात | अज्ञात |
| | ,, भाष्य † | ,, २४ | ,, | ,, |
| | ,, भाष्य † | ,, ३२ | ,, | ,, |
| | ,, वृत्ति † | श्लो. १०९० | गोविन्दाचार्य | अज्ञात, किन्तु वि १२८८ के पूर्व |
| | ,, टिप्पन × | ,, २९२ | उदयप्रभसूरि | वि १३ वीं श. |
| | (३) बन्धस्वामित्व † | गा ५४ | अज्ञात | अज्ञात |
| | ,, वृत्ति † | श्लो ५६० | हरिभद्रसूरि | वि सं. ११७२ |
| | (४) षडशीति † | गा. ८६ | जिनवल्लभगणी | वि १२ वीं शताब्दी |
| | ,, भाष्य | ,, २३ | अज्ञात | अज्ञात |
| | ,, भाष्य † | ,, ३८ | ,, | ,, |
| | ,, वृत्ति † | श्लो. ८५० | हरिभद्रसूरि | वि. सं. ११७२ |

| ग्रन्थ-नाम | परिमाण | कर्त्ता | रचना-समय |
| --- | --- | --- | --- |
| षडशीति वृत्ति † | श्लो. २१०० | मलयगिरिसूरि | वि० १२-१३ वीं श० |
| ,, वृत्ति | श्लो. १६५० | यशोभद्रसूरि | वि. की १२ वीं श. का अन्त |
| ,, प्रा० वृत्ति | श्लो. ७५० | रामदेव | वि० १२ वीं श० |
| ,, विवरण × | पत्र ३२ | मेरुवाचक | अज्ञात |
| ,, उद्धार × | श्लो. १६०० | अज्ञात | अज्ञात |
| ,, अवचूरि | श्लो. ७०० | अज्ञात | अज्ञात |
| (५) शतक | गा. १०० ? | शिवशर्मसूरि | अनु० वि० ५ वीं श० |
| ,, भाष्य | गा. २४ | अज्ञात | अज्ञात |
| ,, भाष्य | गा. २४ | अज्ञात | अज्ञात |
| ,, बृहद्भाष्य | श्लो. १४१३ | चक्रेश्वरसूरि | वि सं. ११७९ |
| ,, चूर्णी | श्लो. २३२२ | अज्ञात | अज्ञात |
| ,, वृत्ति | श्लो. ३७४० | मलधारी श्री हेमचंद्रसूरि | वि० १२ वीं श० |
| ,, टिप्पन × | श्लो. ९७४ | उदयप्रभसूरि | वि० १३ वीं श० |
| ,, अवचूरि | पत्र २५ | गुणरत्नसूरि | वि० १५ वीं श० |

| संख्या | ग्रन्थ-नाम | परिमाण | कर्त्ता | रचना-समय |
| --- | --- | --- | --- | --- |
| | (६) सप्ततिका † | गा. ७९ | चन्द्रर्षिमहत्तर | अनुमानसे विक्रमकी ७वीं. श. |
| | ,, भाष्य | गा. १९१ | अभयदेवसूरि | वि. ११-१२ वीं श. |
| | ,, चूर्णी × | पत्र १३२ | अज्ञात | अज्ञात |
| | ,, प्रा. वृत्ति | श्लो. २३०० | चन्द्रर्षिमहत्तर | अनुमानसे विक्रमकी ७ वीं श. |
| | ,, वृत्ति † | ,, ३७८० | मलयगिरिसूरि | वि. १२-१३ वीं श. |
| | ,, भाष्यवृत्ति | ,, ४१५० | मेरुतुंगसूरि | वि. सं० १४४९ |
| | ,, टिप्पन × | ,, ५७४ | रामदेव | वि. की १२ वीं श. |
| | ,, अवचूरि | देखो नव्य कर्म प्रंथ की अव० | गुणरत्नसूरि | वि. १५ वीं श. |
| ४ | सार्द्धशतक † | गा. १५५ | जिनवल्लभगणी | वि. १२ वीं श. |
| | ,, भाष्य | ,, ११० | अज्ञात | अज्ञात |
| | ,, चूर्णी | श्लो. २२०० | मुनिचन्द्रसूरि | वि. सं० ११७० |

| संख्या | ग्रन्थ-नाम | परिमाण | कर्त्ता | रचना-समय |
|---|---|---|---|---|
| | ,, वृत्ति † | ,, ३७०० | धनेश्वरसूरि | वि. सं० १७१ |
| | ,, प्रा. वृत्ति | ताड. १५१ | चक्रेश्वरसूरि | अज्ञात |
| | ,, वृत्तिटिप्पन | श्लो. १४०० | अज्ञात | अज्ञात |
| ५ | पाँच नवीन कर्मग्रन्थ † | गा. ३१० | देवेन्द्रसूरि | वि. की १३-१४ वीं श. |
| | पंच कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञटीका ‡ | श्लो १०१३७ | देवेन्द्रसूरि | वि. की १३-१४ वीं श. |
| | ,, अवचूरि × | ,, २६५८ | मुनिशेखरसूरि | अज्ञात |
| | ,, अवचूरि | ,, ५४ ७० | गुणरत्नसूरि | वि की १५ वीं श |
| | कर्मस्तव विवरण × | ,, १५० | कमलसंयमोपाध्याय | वि. सं० १५५६ |
| | छह कर्मग्रन्थ बालावबोध ‡ | ,, १७००० | जयसोमसूरि | |
| | ,, बालावबोध × | ,, १२००० | मतिचन्द्र | |
| | ,, बालावबोध ‡ | ,, १०००० | जीवविजय | वि. सं० १८०३ |

* यह प्रमाण सप्ततिकाकी अवचूरि मिलाकर दिया है।

| संख्या | ग्रन्थ नाम | परिमाण | कर्त्ता | रचना-समय |
|---|---|---|---|---|
| ६ | मनःस्थिरीकरण प्रकरण | गा. १६७ | महेन्द्रसूरि | वि. सं० १२८४ |
| | ,, वृत्ति | श्लो. २३०० | स्वोपज्ञ | ,, |
| ७ | संस्कृत चार कर्मग्रंथ‡ | ,, ५६६ | जयतिलकसूरि | वि, १५ वीं शताब्दी का आरम्भ |
| ८ | कर्मप्रकृतिद्वात्रिंशिका | गा. ३२ | अज्ञात | अज्ञात |
| ९ | भावप्रकरण ‡ | ,, ३० | विजयविमलगणी | वि. सं० १६२३ |
| | ,, स्वोपज्ञ वृत्ति | श्लो. ३२५ | ,, | ,, |
| १० | बंधहेतूदयत्रिभंगी | गा. ६५ | हर्षकुलगणी | वि. १६ वीं श. |
| | बंधहेतूदयत्रिभंगी वृत्ति | श्लो. ११५० | वानर्षिगणी | वि. सं. १६०२ |
| ११ | बन्धोदयसत्ता प्रकरण | गा. २४ | विजयविमलगणी | वि. सं. १६२३ |
| | ,, स्वोपज्ञअवचूरि | श्लो. ३०० | ,, | ,, |
| १२ | कर्मसंवेधप्रकरण | श्लो. ४०० | राजहंस-शिष्य देवचंद्र | अज्ञात |
| १३ | कर्मसंवेधभंग प्रकरण | पत्र १० | अज्ञात | अज्ञात |

# दिगम्बरीय कर्म विषयक-ग्रन्थ

| संख्या | नाम-ग्रन्थ | परिमाण | कर्त्ता | रचना-समय |
|---|---|---|---|---|
| १ | महाकर्मप्राभृत• × षट्खंडागम | श्लो. ३६००० | पुष्पदंत तथा भूतबलि | अनुमान वि. ४-५ वीं श. |
| | „ (क) प्राकृत टीका | „ १२००० | कुन्दकुन्दाचार्य | अज्ञात |
| | „ (ख) टीका | „ ६००० | शामकुण्डाचार्य | „ |
| | „ (ग) कर्णाटक टीका | „ ५४००० | तुम्बुलूराचार्य | „ |
| | „ (घ) संस्कृत टीका | „ ४८००० | समन्तभद्राचार्य | „ |
| | „ (च) व्याख्या टीका | „ १४००० | वप्पदेवगुरु | „ |
| | „ (छ) धवला टीका | „ ७२००० | वीरसेन | वि. सं. ९०५ के लगभग |
| २ | कषायप्राभृत | गा. २३६ | गुणधर | अनुमान वि. ५ वीं श. |
| | „ (क) चूर्णीवृत्ति | श्लो. ६००० | यतिवृषभाचार्य | अनुमान वि. छठी श. |
| | „ (ख) उच्चा• वृत्ति | „ १२००० | उच्चारणाचार्य | अज्ञात |
| | „ (ग) टीका | „ ६००० | शामकुण्डाचार्य | „ |
| | „ (घ) चूर्णी व्याख्या | „ ८४००० कर्मप्राभृत सहित | तुम्बुलूराचार्य | „ |

| संख्या | ग्रन्थ-नाम | परिमाण | कर्त्ता | रचना-समय |
|---|---|---|---|---|
| | ,, (घं) प्राकृत टीका | श्लो. ६[illegible]०० | वप्पदेवगुरु | अज्ञात |
| | ,, (ङ) ज० टीका | ,, ६०००० | वीरसेन तथा जिनसेन | वि. ९-१० वीं श. |
| ३ | गोम्मटसार | गा. १७०५ | नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्ती | वि. ११ वीं श. |
| | , (क) कर्नाटक टीका | | चामुण्डराय | वि. ११ वीं श. |
| | ,, (ख) संस्कृत टीका | | केशववर्णी | |
| | ,, (ग) संस्कृत टीका | | अभयचन्द्र | |
| | ,, (घ) हिंदी टीका | | टोडरमलजी | |
| | लब्धिसार | ,, ६५० | नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्ती | वि. ११ वीं श. |
| | ,, (क) संस्कृत टीका | | केशववर्णी | |
| | ,, (ख) हिंदी टीका | | टोडरमलजी | |
| | संस्कृत पंचसंग्रह स० | | माधवचन्द्र त्रैविद्य | वि. १०-११ वीं श. |
| | संस्कृत पद्यसंग्रह | | अमितगति | वि. सं. १०७३ |

# श्री आत्मानन्द-जैनपुस्तक-प्रचारक-मण्डल

## रोशनमुहल्ला आगरासे प्राप्य पुस्तकें:—

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| पहला कर्मग्रन्थ— | पण्डित | सुखलाल जी | द्वारा | अनूदित | २) |
| दूसरा " | " | " | " | " | १॥) |
| तीसरा " | " | " | " | " | ॥=) |
| चौथा " | " | " | " | " | २॥) |
| पाँचवाँ " | " | कैलाशचन्द्रजी | " | " | ३) |
| छठा " | " | फूलचन्द्र जी | " | " | ४) |
| दण्डक— | " | सुखलाल जी | " | " | ।) |
| योगदर्शन-योगविंशिका | " | सुखलाल जी | " | " | १।॥) |
| जीव-विचार— | " | हीरालाल जी | " | " | १।) |
| " " | " | बृजलाल जी | " | " | ।–) |
| नवतत्त्व— | " | " | " | " | ॥=) |
| वीतरागस्तोत्र— | " | " | " | " | =) |
| रत्नाकरपच्चीसीस्तोत्र | " | भामण्डलदेवजी | " | " | ।) |
| अजितशान्तिस्तोत्र— | मुनि | माणिक्यविजयजी | " | " | =) |

| | | |
|---|---|---|
| विधवाविवाह उपन्यास—मुनि विमलविजयजी लिखित | | ॥=) |
| पुराण और जैनधर्म—पं० हंसराज जी द्वारा | " | ॥) |
| सफल साधना— सेठ अचलसिंहजी " | " | ॥=) |
| जैलमें मेरा जैनाभ्यास— " " | " २) | २॥) |
| हिन्दी-जैन-शिक्षा भाग १ सेठ लक्ष्मीचन्दजी घिया | " | =) |
| " " " " २ " " | " | =) |
| " " " " ३ " " | " | =)॥ |
| " " " " ४ " " | " | ≡) |
| सदाचार-रक्षा—सेठ जवाहरलाल जी नाहटा | " | ।−) |
| प्राचीन-कविता-संग्रह— " " | " | ।=) |
| महासती चन्दनवाला—बाबू ताराचन्द जी लूनियाँ | " | ।=) |
| ज्ञान थापनेकी विधि— | .... | ≡) |
| भक्तामर-कल्याण स्तोत्र— | .... | ।) |
| श्री हिन्दी जैन कल्पसूत्र— | .... | २॥) |
| श्री आत्मानन्द-शताब्दि-अङ्क— | .... | २॥) |

## आत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल

'न स्वाध्यायात्परं तपः'

समाज, देश और धर्मका अभ्युदय और ज्ञान-वर्धन केवल सुंदर साहित्यके अध्ययनपर निर्भर है। श्वेताम्बर जैन समाजमें हिन्दी जैन साहित्यको प्रकट करनेवाली संस्थाओंका अभाव देखकर १६०६ में उक्त 'मण्डल' स्थापित किया गया था। तबसे बराबर यह अपनी शक्ति-अनुसार कार्य कर रहा है। अब तक इसने ५४ महत्त्व-पूर्ण प्रकाशन किये हैं। समाजसे एवं श्रीमानों और धीमानोंसे विनम्र निवेदन है कि वे स्वाध्यायसे अपने ज्ञानकी वृद्धि करके, उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर और आर्थिक सहायता पहुँचाकर इस कार्यमें सदैव हमारा हाथ बँटाते रहें।

प्रार्थी—

मंत्री

रोशनमुहल्ला, आगरा